आगम और तन्त्रशास्त्र

(दार्शनिक एवं सांस्कृतिक विवेचन)

लेखक

प० व्रजवल्लभ द्विवेदी

भूतपूर्व अध्यक्ष, योगतन्त्र विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

परिमल पब्लिकेशन्स

दिल्ली

प्रकाशक
परिमल पब्लिकेशन्स
३३/१७ शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण
५०० प्रतियां
सन् १९८४
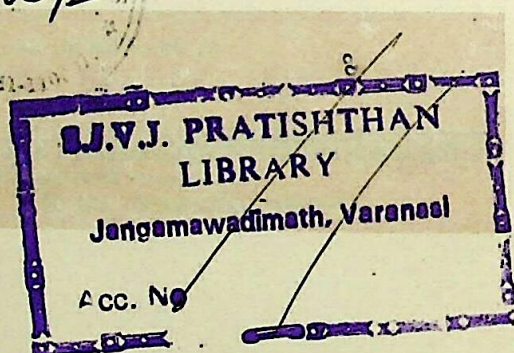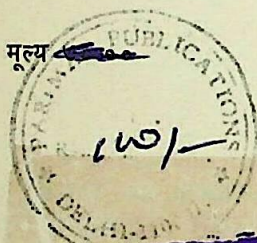
मूल्य १००/-

मुद्रक : निर्मल प्रिंटर्स
ई० १५०, कृष्ण विहार, धर्मशाला रोड़,
पूठ कलां, दिल्ली-४१

आमुख

(दर्शन खण्ड)

पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के योगतन्त्र विभाग के कई वर्षों तक अध्यक्ष रहे हैं। श्रद्धेय म० म० डा० गोपीनाथ कविराज का भी उन्हें कई वर्षों तक सांनिध्य प्राप्त रहा है। इन अवसरों का उन्होंने प्रचुर उपयोग किया है।

उन्होंने तन्त्रशास्त्र का गहन अध्ययन तो किया ही है, इसके साथ ही उन्होंने भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर तन्त्र ग्रन्थों की खोज भी की है और कुछ ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। वह इस शास्त्र के अधिकारी विद्वान् है।

समय-समय पर वह अध्यात्म सम्बन्धी लेख लिखते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उनके कुछ लेखों का संग्रह है। यद्यपि यह फुटकल लेखों का संग्रह है तथापि इसमें समान रूप से कुछ गवेषणापूर्ण तथ्य व्यक्त किये गये हैं, जिनकी ओर में पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूंगा।

१. तन्त्रों का प्रादुर्भाव मुख्यत भारत में ही हुआ था। चीन इत्यादि का प्रभाव बाद में पड़ा।

२. तन्त्र की एक सामान्य प्रक्रिया है, जिसको वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन सम्प्रदायों ने अपने-अपने मत के परिप्रेक्ष्य में प्रकारान्तर से ग्रहण किया।

३. अद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत तन्त्रों में दार्शनिक मतभेद होते हुए भी दीक्षा, पूजा, मन्त्र, यन्त्र इत्यादि में बहुत समानता है।

४. तन्त्र केवल दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में ही नहीं रचित हुए, इनका छठवीं शताब्दी से ही प्रादुर्भाव हो गया था। इनके कुछ सूत्र उपनिषदों तक में मिलते हैं।

५. तन्त्र में केवल बाह्य वरिवस्या नहीं है। उसकी मुख्य साधना एक आन्तरिक योग है। कुण्डली का जागरण तो मुख्यतः तन्त्रों का ही परिदान है।

६. तन्त्रों में जाति, लिंग इत्यादि का भेदभाव नहीं है। उसका द्वार सबके लिये खुला है।

प्रत्येक लेख में विद्वान् लेखक की गवेषणा की झलक मिलती है। आशा है पाठक हमसे अवश्य लाभान्वित होंगे।

जयदेव सिंह

आमुख

(संस्कृति खण्ड)

पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी इस समय के पण्डितों में अपना एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। ये शास्त्रनिष्ठ रहते हुए प्रगतिशील विचारक है और आज के भारत की समस्याओं पर समयोचित पुनः संस्करण की दृष्टि से विचार करते हैं। ये भारत में प्रचलित विभिन्न धर्मों के समन्वय एवं पारस्परिक सहिष्णुता में भारतीय संस्कृति की परिभाषा देखते हैं, वर्ण व्यवस्था के सन्तों एवं वैष्णव आचार्यो के द्वारा निर्धारित उदार रूप को ही स्वीकार करते हैं, जिसमें आध्यात्मिक विकास का मार्ग सभी वर्णो के लिये प्रशस्त है और गुणों के आधार पर ही सामाजिक महत्त्व का निर्धारण हुआ है।

धर्म में नाना सम्प्रदायों, मतों, पन्थों एवं वादों के बहुसंख्यक विभाजन में श्रीमद्भागवत के अनुसार इन्होंने रुचि वैचित्र्य के अरिरिक्त उन वादों के अहंभाव को भी कारण माना है। इस स्वार्थमूलक अहंकार से प्रेरित वित्तैषणा एवं लोकैषणा के त्याग से ही शुद्ध सामान्य अध्यात्ममूलक धर्म की पुनः स्थापना एवं भारतीय संस्कृति का पुनरुद्धार हो सकता है। अन्यथा धर्म के मूल आध्यात्मिक एवं नैतिक तत्त्व की उपेक्षा एवं समानान्तर रूप से धर्म के गौण रूप कर्मकाण्ड की वृद्धि से धर्मों एवं सम्प्रदायों में पारस्परिक भेदभाव और वाम मार्गीय क्रियाकलाप के साथ-साथ जनतन्त्र विरुद्ध हिंसात्मक कृत्यों का एवं भ्रमजाल का विस्तार ही होता जायगा, जोकि भारत की भावात्मक एकता में आज की मुख्य बाधा है।

द्विवेदी जी के विचार वर्तमान भारत की सामाजिक एव सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान में परमोपयोगी सिद्ध होंगे। वास्तव में आज ऐसे ही विचारों के बृहत् प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है। द्विवेदी जी दर्शन, आगम और तन्त्रशास्त्र के उद्भट विद्वान् हैं और उनके सारे विचार पूर्णरूप से शास्त्रानुमोदित हैं, जो हमारी धर्मप्राण जनता के लिये सहज रूप से स्वीकार्य एवं उपादेय होंगे। साथ ही भारत की दार्शनिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक

समस्यावओं के अध्ययन की उनकी दृष्टि ऐतिहासिक, कालक्रमवर्तिनी, तुलनात्मक, समन्वयात्मक एवं समयोपयुक्त परिवर्तनवादिनी होने के कारण देश के उज्ज्वल भविष्य की विधायिका भी है।

मैं इस प्रकाशन का स्वागत करता हूं और मुझे विश्वास है कि भारतीय एकता एवं भारतीय संस्कृति के पुन: संस्करण के इच्छुक सभी विचारक, नेता और शासक प्रस्तुत पुस्तक में संकलित विचारों के देशव्यापी प्रसार में हर प्रकार से सहायक होंगे ।

स्वतन्त्रता दिवस (१५-८-८४)

राजाराम शास्त्री
भूतपूर्व कुलपति
काशी विद्यापीठ, वाराणसी ।

प्रस्तावना

"आगम और तन्त्रशास्त्र" के नाम से समय-समय पर लिखे निबन्धों का एक सग्रह विज्ञ पाठकों के सामने रखा जा रहा है। प्रथमतः "आगम आणि तन्त्रशास्त्र" शीर्षक से छपे मराठी निबन्ध के आधार पर इस पूरे संग्रह को यह नाम दिया गया है। इस संग्रह के प्राय: सभी निवन्ध इस मुख्य निबन्ध के पूरक माने जा सकते हैं।

इस निबन्ध-संग्रह को "अखण्ड भारतीय संस्कृति" के नाम से प्रकाशित कराने का उपक्रम हुआ था, किन्तु वह प्रयत्न सफल न हो सका। उस समय श्रद्धेय आचार्य नरेन्द्रदेव के अनन्य सहयोगी मान्यवर प्रोफे-र मुकुटविहारीलाल ने प्राय: इन सभी निवन्धों को ध्यान से सुनाग्रा और निवन्धों की प्रकृति के अनुसार उनको दो भागों में बांट देने का सुझाव दिया था। तदनुसार इस संग्रह को अब दो भागों में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम भाग में प्रधान रूप से दार्शनिक और ऐतिहासिक निबन्धों का तथा दूसरे में सांस्कृतिक और सामाजिक निबन्धों का समावेश किया गया है। इसके साथ ही यह भी सही है कि यत्र-तत्र दोनों ही विभागों में एक दूसरे विभाग के विषयों की चर्चा आ जाती है।

भगवद्गीता ,पांचरात्राधिकरण, नारायणीयोपाख्यान, भागवत आदि का तथा अखण्ड महायोग, विश्वाह·ता दृष्टि आदि का आपाततः कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, कि·तु इन सभी निबन्धों में एक राष्ट्रीयता, भावात्मक एकता और अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण के लिये उपयुक्त सामग्री का ऐतिहासिक, तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक पद्धति से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मीमांसाशास्त्र में उपक्रम-उपसंहार पद्धति से शास्त्र की एकरूपता का निर्णय लिया जाता है और आवाप एवं उद्वाप (ग्रहण और परित्याग) की पद्धति से उपादेय विषय का संग्रह तथा हेय विषय का परित्याग किया जाता है। इन नियमों का यहाँ पूरी तरह से पालन किया गया है और "पुराण-

मित्येव न साधु सर्वम्" कालिदास की इस उक्ति के अनुसार पुरातन और नूतन में सहज समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है।

"वसुधैव कुटुम्बकम्" और विश्वाहन्ता-दृष्टि का निरूपण करने के साथ ही यहाँ अन्ताराष्ट्रियता के व्यामोह की आलोचना भी की गई है। स्व व के विस्तार के साथ स्वत्व का लोप न हो जाय, इसको देखना जरूरी है। विश्व स्वत्व के संकोच की ओर तेजी से बढ़ रहा है। विगत कुछ वर्षों में अनेक देश खण्डित हो चुके हैं। सघात्मकता विघटन की ओर तेजी से बढ़ रही है। इसको तभी रोका जा सकता है, जबकि दुनिया में नये-नये राष्ट्रों की संख्या बढ़ने के वजाय घटने लगे। यह तभी हो सकता है, जबकि राष्ट्रों में परस्पर संघवद्ध होने की भावना जगे। एक दुनिया का स्वप्न भी तभी साकार हो सकेगा। यह जब तक संभव नहीं होता, हमें अन्ताराष्ट्रियता के व्यामोह से बचना होगा।

वैदिक विश्ववन्धुत्व की भावना के साथ हमें भगवान् बुद्ध की महाकरुणा को एवं भगवान् महावीर की कठोर तपस्या को मिलाना होगा। साथ ही आगम और तन्त्रशास्त्र में, सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरुओं की वाणी में वताई गई समता दृष्टि का भी विस्तार करना होगा। आज की दुनिया केवल राजनीतिक संघर्ष से ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक विद्रूपताओं से भी भरी हुई है, राजनीतिक लाभ के लिये धार्मिक और सांस्कृतिक क्रियाकलापों का भी सहारा लिया जा रहा है और एक अखण्ड भारतीय सस्कृति के निर्माण में वाधा पहुंचाई जा रही है। दुर्योधन की जंघा की तरह कमजोर अंगों पर आक्रमण सदा होता रहा है। इसलिये हमें अपनी कमजोरियों को पहचान कर उनको दूर करने का प्रयत्न करना होगा। इसके लिये दूसरों को दोषी वताने से हमारा कोई लाभ होने वाला नहीं है और न इस तरह से विघटन की प्रक्रिया ही रुकने वाली है।

इस संग्रह में संस्कृत भाषा सम्बन्धी निबन्ध भी हैं। दक्षिण के वैष्णव और शैव सन्तों पर तथा उत्तर के सिद्धों, नाथों और सन्तों पर आगम और तन्त्रशास्त्र का गहरा प्रभाव है। भक्त नरसी मेहता की वाणी भी इनसे आप्यायित है, जोकि महात्मा गाँधी की आध्यात्मिक शक्ति की प्रेरणा-स्रोत रही हैं। आज कवीर, नामदेव, रविदास आदि का तथा गुरुओं की वाणी का अध्ययन इस दृष्टिकोण से नहीं किया जाता। इनको नवीन दृष्टिकोण का

उदभावक मानकर एक संकीर्ण घेरे में डाल दिया जाता है। सूफी सन्तों के अध्ययन में भी यही त्रुटि रह गई है। इसके निवारण के लिये हमें संस्कृत वाङ्मय की, विशेषकर आगम और तन्त्रशास्त्र की सहायता लेनी होगी, जिसका कि उपदेश मानव मात्र के कल्याण के लिये हुआ है।

वैयक्तिक साधना का अपना स्थान है। यह भी मानव कल्याण के लिये प्रवृत्त है। किन्तु प्रस्तुत सग्रह में व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहिलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा हो, इस पर अधिक जोर दिया गया है। ऐसा करने पर ही हम श्रद्धेय गुरुचरण श्री श्री गोपीनाथ कविराज के बताये अखण्ड महायोग के माध्यम से योगी अरविन्द की अतिमानस सृष्टि को धरती पर उतार सकते हैं। एक दुनिया और विश्वसंस्कृति की कल्पना भी तभी साकार हो सकती है। इसके लिये हमें गणेशपुरी के सन्त स्वामी मुक्तानन्द के आश्रम में अंकित "परस्पर देवो भव" इस वाक्य को चरितार्थ करना होगा।

आगम और तन्त्रशास्त्र में मोहें जोदड़ो-हरप्पा की संस्कृति से और वैदिक साहित्य के साथ बौद्ध और जैन वाङ्मय से भी समान रूप से सामग्री संकलित की गई है। इसकी पांचरात्र और पाशुपत शाखाओं का उल्लेख वैदिक और पालि वाङ्मय में भी मिलता है। पाशुपत सूत्रों के रचयिता लकुलीश का का प्रादुर्भाव ईसा की पहली-दूसरी शताब्दी में कायावरोहण में हो चुका था। इनके मौसुल, कारुक आदि शिष्यों का तथा उनके हृदय प्रमाण आदि ग्रन्थों का उल्लेख प्राचीन टीकाकारों में किया है। तन्त्रशास्त्र में जातिग्रह को एक प्रकार का पाश माना जाता है। विभिन्न धर्मों और वादों के अनुयायी जन यहाँ रहते हैं। उक्त दृष्टिकोण के आधार पर इन सबको एकजुट किया जा सकता है। इस निबन्ध सग्रह का इस कार्य में कुछ भी योगदान हो सका तो लेखक का प्रयत्न सफल हो सकेगा।

इस संग्रह के दार्शनिक एवं ऐतिहासिक खण्ड के लिये पद्मभूषण ठाकुर श्री जयदेव सिंह जी ने तथा सांस्कृतिक और सामाजिक खण्ड के लिये श्री राजाराम शास्त्री जी ने आमुख लिख कर इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा बढ़ाई है। ठाकुर श्री जयदेवसिंह जी भारतीय दर्शनशास्त्र, संगीतशास्त्र और आगम-तन्त्रशास्त्र के प्रतिनिधि विद्वान् हैं और काशी विद्यापीठ, वाराणसी के पूर्व

कुलपति एवं संसद सदस्य श्री राजाराम शास्त्री जी प्रसिद्ध समाज शास्त्री हैं। और पाश्चात्य चिन्तन धाराओं पर इनका समान अधिकार है। इनके प्रति मैं अपनी विनम्र कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। इस संग्रह को प्रकाश में लाने के लिये आगे आये परिमल पब्लिकेशन के अध्यक्ष श्री कन्हैयालाल जोशी को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आशा है सुधी विचारक इस संग्रह की त्रुटियों का परिमार्जन करते हुए इस विचारधारा को आगे बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे।

श्रावणी, संवत् २०४१ — व्रजवल्लभ द्विवेदी

विषय-सूची

१. संस्कृति खण्ड

२. संस्कृति खण्ड

१

दर्शन खण्ड

दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विवेचन

'आगम और तन्त्रशास्त्र को कविराज जी की देन[1]

'आगम' और 'तन्त्र' शब्दों की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार और संक्षेप से लिखा गया है। हमें यहां केवल इतना ही कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा विशेष में रूढ़ हैं, जो पहले आगम' और बाद में 'तन्त्र' शब्द से अभिहित हुए। प्रो० विण्टरनित्ज[2] का कहना है कि 'ठीक-ठीक कहा जाय, तो 'संहिताएं' वैष्णवों के, 'आगम' शैवों के तथा 'तन्त्र' शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं। इस पर इतना ही कहा जा सकता है कि 'आगम' शब्द से जैसे आजकल शैव और वैष्णव दोनों ही तरह के आगम-ग्रन्थों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही 'संहिता' शब्द से केवल वैष्णवागमों का ही बोध नहीं होता। वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण आदि से सम्बद्ध 'संहिता' नाम से अभिहित होने वाले ग्रन्थों की एक विशाल राशि

---

१. परिषद् पत्रिका, पटना (व० १८, अ० २. पृ० १७-३६, जुलाई, १६७८) में प्रकाशित। इस निबन्ध का अधिकांश वेदशास्त्रोत्तेजक सभा पूना के सन्दर्भ ग्रन्थ 'प्राचीन भारतीय विद्ये चे पुनर्दर्शन' में प्रकाशित निबन्ध 'आगम आणि तन्त्रशास्त्र' (पृ० १८१-१६६) का हिन्दी रूपान्तर है।

२. प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी संस्करण), भा० १, ख० २, पृ० २४५ (प्रकाशक: मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १६६६ ई०)।

विद्यमान है । इसीलिए, आगे वे[1] कहते हैं । 'वस्तुतः, इन शब्दों में कोई स्पष्ट भेद करने वाली रेखा नहीं है और 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग बहुधा इस प्रकार के सम्पूर्ण ग्रन्थों के लिए हुआ है । इन सारे ग्रन्थों की कुछ समान विशेषताएं हैं । ये पवित्र ग्रन्थ द्विजातियों के लिए ही नहीं, वल्कि शूद्रों और स्त्रियों के लिए भी हैं ।

श्री चार्ल्स ईलियट ने सन् ११२१ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में भागवतों और पाशुपातों के प्रकरण में[2] उक्त विषय पर विचार करते हुए लिखा था कि 'तन्त्र, आगम और संहिताओं ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बांटा था — ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या । बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर नाम मिलता है ।' यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पांचरात्र संहिताएं ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु विना पाद-विभाग के ये सभी विषय प्रायः सभी तन्त्र ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं । इस प्रकार, आगम अथवा तन्त्र शब्द से समान प्रकृति और विशेषताओं वाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध होता है ।

प्रो० विण्टरनित्ज[3] यद्यपि ईलियट की उक्त परिभाषा को मानते हैं और तदनुसार संक्षेप में शैवागमों और पांचरात्र संहिताओं का परिचय भी देते हैं, तथापि आगे चलकर वे[4] कहते हैं । 'पर जब हम तन्त्रों की बात करते हैं, तब हमारा ध्यान शाक्तों के पवित्र ग्रन्थों पर जाता है ।' ऐसा कहते समय वे ईलियट[5] की इस उक्ति को भूल जाते हैं । 'किन्तु मुझे यह पुनः कहना पड़ेगा कि सब मत तान्त्रिक हैं, इसका मतलब यह नहीं कि वे सब शाक्त हैं । किन्तु, शाक्त मत मूलतः आनुपूर्वी से सिद्धान्त और व्यवहार में विशुद्ध तान्त्रिक है ।'

---

१. प्रा० भा० साहित्य पृ० २४५; टिप्पणी भी द्रष्टव्य : इस तरह, वैष्णवों की पाद्मसंहिता को पाद्मतन्त्र कहा गया है। भागवत (१।३।८) में निर्दिष्ट 'सात्वतं तन्त्रम्' शायद सात्वतसंहिता ही है । लक्ष्मीतन्त्र एक वैष्णव ग्रन्थ है । इस प्रसंग में यह अवधेय है कि हयशीर्ष पांचरात्र (आदि०, पटल ३) और अग्निपुराण (अध्याय २९) में पांचरात्र ग्रन्थों को तन्त्र नाम से ही सम्बोधित किया गया है, संहिता के नाम से नहीं ।

२. हिन्दुइज्म एण्ड बुद्धिज्म, लन्दन, भा० २, पृ० १८८-१८९, मूल एवं टिप्पणी ।

३ प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० २४५-२४९ तक ।

४. तत्रैव, पृ० २४९ ।

५. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० १९१ ।

इसके बाद इस शास्त्र का परिचय वे उन ग्रन्थों के आधार पर देते हैं, जिनका आविर्भाव-काल नितान्त परवर्ती है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'पुराणों और तन्त्रों का अध्ययन कोई आनन्ददायक कार्य नहीं है। यह बात तन्त्रों के बारे में अधिक सही है। ये सारे के सारे हीन कोटि के लेखकों की कृतियां हैं और प्रायः असंस्कृत और व्याकरण के नियमों से अछूती भाषा में लिखे गये हैं।'[१] तन्त्रशास्त्र पर किये गये इस तरह के आक्षेपों का भारतरत्न म० म० पी० वी० काणे[२] महोदय ने प्रतिवाद किया है।

किन्तु, भारतरत्न म० म० पी० वी० काणे[३] जब लिखते हैं कि लोग तन्त्रों से तात्पर्य लगाते हैं शक्ति (काली देवी) की पूजा, मुद्राएं, मन्त्र, मण्डल, पंच मकार, दक्षिण मार्ग, वाम मार्ग एवं ऐन्द्रजालिक क्रियाएं, जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियां प्राप्त हो जाती हैं। इसी तरह से शक्तिवाद और तन्त्रों के उद्भव के विषय में जानकारी देते हुए वे जब कहते हैं कि उन्होंने पुराणों पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा मध्यकाल की भारतीय धार्मिक रीतियों और व्यवहारों (आचारों) को प्रभावित किया,[४] तब वे तन्त्र शब्द का प्रयोग विण्टरनित्ज के इसी संकुचित अर्थ में करते हैं, यद्यपि वे इस प्रसंग में[५] 'जयाख्यसंहिता', 'अहिर्बुध्न्यसंहिता', 'प्रपंचसार', 'शारदातिलक', ईशानशिवगुरुदेवपद्धति जैसे वैष्णवागम एवं शैवागम के ग्रन्थों को भी प्रमाण-रूप में उद्धृत करते हैं, जो इन शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत नहीं आते।

इसका कारण यह है कि सर चार्ल्स ईलियट[६] की पद्धति पर इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया गया। इसके विपरीत, सर जान वुडरफ[७] के ग्रन्थों

---

१. प्राचीन भा० सा०, पृ० २६२।
२. धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी संस्करण), भा० ५, अ० २६, पृ० ४६ (प्रकाशक : हिन्दी समिति उत्तरप्रदेश शासन, लखनऊ, सन् १९७३ ई०)।
३. तत्रैव, पृ० १।
४. तत्रैव, पृ० १।
५. तत्रैव, पृ० ५५-५८ एवं ७८-८३।
६. हिन्दुइज्म०, 'भागवताज़ एण्ड पाशुपताज़' प्रभृति अध्याय, भा० २, पृ० १८७ से।
७. प्राचीन भा० सा०, पृ० २४९।

को इस शास्त्र के अध्ययन में आवश्यकता से अधिक प्रमाण मान लिया गया है। इस विद्वान् के द्वारा तन्त्रशास्त्र की की गई सेवाओं के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए भी हमें यह कहना पड़ता है कि इनका प्रायः सम्पूर्ण अध्ययन उन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत हुआ है, जिनका आविर्भाव-काल अपेक्षाकृत परवर्ती है। जब प्रो० विण्टरनित्ज[1] कहते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बंगाल में हुआ मालूम पड़ता है, जहाँ से वे असम और नेपाल में गये तथा भारत के बाहर बौद्ध धर्म के माध्यम से वे तिब्बत और चीन में भी पहुंचे, तब वे परवर्ती काल में आविर्भूत इसी शास्त्र की ओर इंगित करते हैं; क्योंकि यह सही है कि परवर्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में ही आविर्भूत हुआ था। किन्तु, यह वह साहित्य नहीं है, जोकि असम तथा नेपाल में और बौद्ध धर्म के माध्यम से तिब्बत तथा चीन में गया। यह निर्यातित ज्ञान अभिनवगुप्त के पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आविर्भूत हुआ था। इसके विपरीत, परवर्ती काल का पूरा साहित्य, इस्लाम के आक्रमण के कारण पूर्ववर्त्ती साहित्य के प्रायः नष्ट हो जाने के बाद नेपाल और तिब्बत में सुरक्षित तन्त्रों की सहायता से पुनरुद्धार के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसका मुख्य केन्द्र बंगाल था। जब कुछ विद्वान्[2] भारतीय तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की बात करते हैं, तब उनकी यह बात इसी परवर्ती काल में आविर्भूत शास्त्र पर लागू होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि भागवतों (पांचरात्र) और पाशुपतों ने एक ऐसी पूजाविधि का आविष्कार किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' यह उसका सिद्धान्त-वाक्य था। स्वयं देव-स्वरूप होकर वह अपने आराध्य को भी इसी विधि से मूर्ति, पट, मन्त्र, मण्डल आदि में प्रतिष्ठित करता था और इस प्रकार अपने इष्टदेव की बाह्य वरि-वस्या सम्पादित करता था। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिए यहां व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान था और आन्तर वरिवस्या के लिए वह

---

१. प्रा० भा० सा० पृ० २५०।

२. म० म० भारतरत्न पी० वी० काणे महोदय ने उक्त ग्रन्थ के पृ० २-३ (मूल एवं टिप्पणी) में इन विद्वानों के मतों का उल्लेख और खण्डन किया है।

कुण्डलिनी योग का सहारा लेता था। वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिए जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज आगम अथवा तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित है। अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिए इनका अपना दर्शन और यौगिक पद्धति है और वाह्य वरिवस्या के लिए मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विशिष्ट विधियां इनमें वर्णित हैं। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक आगम में विद्या (ज्ञान), योग, क्रिया और चर्या के नाम से चार पादों का विधान था। शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द प्रभृति देवताओं की आराधना इसी पद्धति से होने लगी थी। इन पूर्ववर्त्ती शैव और वैष्णवागमों की तथा परवर्ती शाक्त तन्त्रों की ऊपर वर्णित आराधना-विधि में कोई अन्तर नहीं है। भारतीय वाङ्मय[1] में कहीं श्रुति के समकक्ष, कहीं पुराणों और धर्मशास्त्रों के समकक्ष इनका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

इस सम्वन्ध में ईलियट[2] का यह कहना एकदम सही है। 'तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्मग्रन्थ हैं और जातिवाद पर वहुत कम बल देते हैं। इनको और इनके पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के वाद गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है। तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के, रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, मन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुंचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिए विवश किया जाय। तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है—भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उसको रूपान्तरित करके भग ान् बना देना। मनुष्य विश्वातीत के साथ सम्वन्ध रखते हुए विश्व के साथ भी सम्वद्ध रहता है। यह मानव शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों का छोटा प्रतिरूप

---

१. प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने 'दि तन्त्राज़ : स्टडीज़ आन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर' (कलकत्ता, सन् १९६३ ई०) नामक ग्रन्थ के 'प्लेस आव दि तन्त्राज़ अमोंग अदर शास्त्राज़' नामक अध्याय (पृ० २९-३७) में भागवत, वायुसंहिता, मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट, भास्करराय, मित्रमिश्र, मधुसूदन सरस्वती आदि के प्रमाणों पर इस बात को सिद्ध किया है।

२. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० १९०।

है। इस विश्व के छोटे-बड़े सभी अंशों में ये शक्तियां समान रूप से कार्यरत हैं।

यह बात आगम और तन्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे साहित्य पर लागू होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि चार्ल्स ईलियट जैसे विद्वानों के द्वारा इन दोनों धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्राय सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगमशास्त्र की एकदम उपेक्षा कर दी है और इसीलिए वे अनेक असंगतियों के शिकार हो गये हैं। वस्तुतः, कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्रशास्त्र ने, अपितु इनसे पहले आगमशास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा न केवल मध्यकालीन, अपितु बुद्धोत्तरकालीन भारतीय धार्मिक रीतियों तथा व्यवहारों (आचारों) को भी प्रभावित किया।

प्रसंगवश यहां पहले तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की चर्चा की गई है।

गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः।
पीठोपपीठक्षेत्रेषु कुरु सृष्टिमनेकधा॥[1]

इस श्लोक के आधार पर अनेक विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बाह्य उपादानों के आधार पर हुआ। कुछ[2] विद्वानों ने इस श्लोक को 'कुब्जिकामततन्त्र' का, कुछ[3] ने 'कुब्जिकामत' का और कुछ[4] ने 'कुब्जिकातन्त्र' का बताया है। 'कुब्जिकामत'[5] और 'कुब्जिकातन्त्र' ये दो अलग-अलग ग्रन्थ हैं, किन्तु 'कुब्जिकामततन्त्र' नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है।

---

१. द्र० म० म० हरप्रसाद शास्त्री का कैटलाग, ताडपत्र पाण्डुलिपि, नेपाल दरबार लाइब्रेरी (कलकत्ता, सन् १९०५ ई०) भा० १, भूमिका, पृ० ८९।
२. धर्मशास्त्र०, भा० ५, अ० २६, पृ० २।
३. दि तन्त्राज़०, पृ० ४७।
४. स्टडीज इन दि तन्त्राज़ : डा० प्रबोधचन्द्र बागची, भा० १, पृ० ४५।
५. द्र० बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के तन्त्र-विषयक सूचीपत्र में ५८०४ और ५८०५ संख्यक ग्रन्थकों का विवरण।

परीक्षणीय है कि यह श्लोक कुब्जिकातन्त्र का है या कुब्जिकामत का। अधिक संभावना है कि यह श्लोक 'कुब्जिकातन्त्र' से ही उद्धृत किया गया है, जो परवर्ती काल की रचना है। 'कुब्जिकामत' छठी-सातवीं शती की रचना[1] मानी जाती है। उस समय भारत में पीठ, उपपीठ, क्षेत्र आदि की स्थिति के लिए प्रमाण अपेक्षित हैं। यदि इनकी स्थिति थी, तो उस परिस्थिति में म० म० पी० वी० काणे[2] महोदय का यह कहना उचित ही माना जायगा कि 'पीठों एवं क्षेत्रों की ओर (श्लोक में) जो निर्देश है, वह इस बात की पुष्टि करता है कि उनमें तन्त्र-सिद्धान्त प्रचलित थे।

डा० प्रबोधचन्द्र बागची[3] ने तन्त्रों के दो मोटे विभाग किये हैं। शास्त्रानुवर्त्ती (आर्थोडाक्स) तन्त्रों में उन्होंने आगम, यामल तथा इनसे सम्बद्ध साहित्य को रखा है और शास्त्राननुवर्ती (हिटरोडाक्स) तन्त्रों में कुलाचार, वामाचार, सहजयान और वज्रयान के तन्त्रों को। उनका कहना है कि द्वितीय विभाग के अंतर्गत आने वाले तन्त्रों की उत्पत्ति पर विदेशी प्रभाव था। कुब्जिकातन्त्र, चीनाचार, तारातन्त्र और सम्मोहनतन्त्र के आधार पर उन्होंने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः, ये सभी ग्रन्थ परवर्ती काल की रचनाएं हैं; क्योंकि इनकी अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन उपलब्ध तन्त्रों से कोई समानता नहीं मिलती। यहाँ उद्धृत सम्मोहतन्त्र कम्बुज-शिलालेख[4]

---

१. धर्मशास्त्र०, पृ० २, टि० ४।

२. तत्रैव, पृ० ३।

३. स्टडीज० में 'आन फोरेन एलिमेण्ट इन दि तन्त्र' नामक प्रकरण, पृ० ४५-५५।

४. डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में (पृ० १-१३) कम्बुज शिलालेख में उद्धृत चार प्राचीन तन्त्र ग्रन्थों का उल्लेख कर उनका परिचय देने का प्रयत्न किया है। यहां उधृत 'सम्मोह तन्त्र' को वे विष्णुत्रान्ता विभाग में स्मृत 'सम्मोहन तन्त्र' से अभिन्न मानते हैं और इसी ग्रन्थ की मातृका के आधार पर अपना अध्ययन भी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि तन्त्रों का सर जान वुडरफ द्वारा प्रतिपादित अश्वक्रान्ता, रथक्रान्ता और विष्णुक्रान्ता वाला विभाग परवर्ती तन्त्र-साहित्य पर आधृत है। कम्बुज शिलालेख में स्मृत शिरश्छेद, वीणाशिख (विनाशिख नहीं, जैसा कि डा० बागची ने उद्धृत किया है) और सम्मोह तन्त्रों का सही परिचय म० म० पं० गोपीनाथ कविराज महोदय ने नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित

में स्मृत ग्रन्थ नहीं है। 'जयद्रथयामल' अपेक्षाकृत प्राचीन रचना है। इसके आधार पर डा० बागची ने जो कुछ कहा है, वह विचारणीय है। उसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि आठवीं शती से पहले भारतीय तन्त्रशास्त्र तिब्बत में प्रविष्ट हो गया था। बाद में परस्पर आदान-प्रदान के माध्यम से परवर्ती काल में इनमें स्थानीय तत्वों का समावेश होना असम्भव नहीं माना जा सकता। शाक्त तन्त्रों की उत्पत्ति मूलतः भारतीय ही है, इस पर हम आगे विचार करेंगे।

शाक्त तन्त्रों को बौद्ध और हिन्दू तन्त्रों में विभक्त कर हिन्दू तन्त्रों पर

'विश्वकोश' के पंचम खण्ड में 'तन्त्र साहित्य' शब्द का विवरण प्रस्तुत करते हुए दिया है। नयोत्तर तन्त्र का परिचय हमने नित्याषोडशिकार्णव (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९६८ ई०) के अपने उपोद्घात (पृ० २८) में दिया है। नेपाल से २०२३ वि० सं० में प्रकाशित वैरोचन के ग्रन्थ 'प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय' (२।२२१) में भी नयोत्तर वाम तन्त्रों में परिगणित है। यह ग्रन्थ विक्रम की नवीं शती में रचित माना जाता है। इस प्रकार कम्बुज शिलालेख में स्मृत तीन ग्रन्थ दक्षिण स्रोत से विनिर्गत भैरवागमों के अन्तर्गत और चतुर्थ वाम स्रोत से वि-र्गत तन्त्र है। इनका डा० बागची के द्वारा प्रतिपादित विवरण से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। विशेष जानकारी के लिए हमारा सम्मोहनतन्त्र 'शक्तिसङ्गमतन्त्रादभिन्नम्' शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य है।

१. म० म० पी० वी० काणे महोदय ने इसी प्रसंग में रुद्रयामल का प्रमाण दिया है (पृ० ३)। कलकत्ता से प्रकाशित 'कुलचूडामणिनिगम' में जैसे क्षेमराज की 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में उद्धृत इस ग्रन्थ का श्लोक उपलब्ध नहीं होता, इसी तरह रुद्रयामल के जीवानन्द संस्करण में भी इस ग्रन्थ के प्राचीन उद्धरण और विषय नहीं प्राप्त होते। अतः इस संस्करण की प्राचीनता यद्यपि सन्दिग्ध है, तथापि प्रायः यही विषय ब्रह्मयामल, देवीभागवत (द्रष्टव्य : स्टडीज० : चक्रवर्ती, पृ० ४६) आदि में भी आता है। इसका समाधान बौद्ध और हिन्दू शाक्त तन्त्रों की घातप्रतिघातात्मकता में ही खोजा जा सकता है। किसी सही निर्णय पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि इन ग्रन्थों के आविर्भाव-काल को पहले निश्चित कर लिया जाय।

बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव को डा० विनयतोष भट्टाचार्य[1] ने बड़े विस्तार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वे बौद्ध महायान धर्म पर पौराणिक प्रभाव की बात मानते हैं,[2] जो वस्तुतः पौराणिक न होकर आगमिक (तान्त्रिक) प्रभाव था। इस बात को आगे स्पष्ट किया जायगा।

इन पंक्तियों के लेखक का यह स्पष्ट विचार है कि भारतीय तत्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि के कल्पित काल-विभागों में बांटकर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभाग को सत्य की खोज में बाधक नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियां प्रविष्ट हो गई है।

पांचरात्र (भागवत) और पाशुपत मत की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है। डा० हेमचन्द्र राय चौधरी[3] ने छान्दोग्य उपनिषद् पर भागवत मत के प्रभाव का अच्छा विश्लेषण किया है। शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय में तथा कृष्ण यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में पाशुपत मत की स्पष्ट झलक मिलती है। महाभारतकार[4] ने वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र मत को समान प्रमाण-कोटि में माना है। कालिदास[5] जब कहते हैं —

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योधा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

---

१. 'एन इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' नामक ग्रन्थ का 'इन्फ्लुएन्स आव बुद्धिस्ट तान्त्रिसिज्म आन हिन्दुइज्म' (पृ० १४७-१६४) शीर्षक प्रकरण द्रष्टव्य (चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, सन् १९६४ ई०)। डा० पी० वी० काणे ने इस मत की विस्तार से समालोचना की है। द्र० : धर्मशास्त्र०, पृ० ७-८।

२. तत्रैव, पृ० ५०।

३. 'अर्ली हिस्ट्री आव दि वैष्णव सेक्ट,' पृ० ३९+५४ (कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् १९२० ई०)।

४. शान्तिपर्व, नारायणीयोपाख्यान (३४९।६८), गीताप्रेस, गोरखपुर।

५. रघुवंश (१०।२६), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३२ ई०।

और, पुष्पदन्त[1] जब कहते हैं—

त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति ।
प्रभिन्ने प्रस्थाने···नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।।

और फिर वीरमित्रोदयकार[2] जब पूछते हैं—'ननु साङ्ख्य-योग-पांचरात्र-पाशुपताद्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न,' तब वे इन्हीं शास्त्रों के प्रामाण्य की बात करते हैं। बहुत ही विनम्रता के साथ हम पूछना चाहते हैं कि वैदिक और पौराणिक दृष्टिकोणों में भारी परिवर्तन कैसे उत्पन्न हुआ? साथ ही, उसी विनम्रता से अपना उत्तर भी प्रस्तुत करना चाहते हैं कि वैदिक यज्ञों को न केवल उपनिषदों[3] ने कमजोर नाव बताया, किन्तु उसी समय सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत जैसे दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। बुद्ध और महावीर ने जब वैदिक यज्ञीय धर्म पर प्रबल आक्रमण किया, तब भारतीय प्रबुद्ध चिन्तकों ने एक नवीन दृष्टिकोण की उद्भावना की, जिसका पूर्ण प्रतिविम्ब हमें महाभारत और पुराणों में मिलता है। इनमें उक्त 'कृतान्तपंचक' का ही नहीं, बुद्ध और महावीर के उपदेशों का सार भी हमें मिलता है और वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड से सर्वथा विपरीत भक्ति प्रधान पौराणिक धर्म के दर्शन होते हैं, जिसमें स्त्री और शूद्र को भी समान अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रकार, नवीन पौराणिक धर्म की ही नहीं, अपितु भक्ति प्रधान बौद्ध महायान धर्म की भी उत्पत्ति हुई। पौराणिक धर्म को हम बौद्ध महायान धर्म का सहोदर मान सकते हैं, जनक नहीं। इस पर की जाने वाली अनुपपत्तियों का निराकरण हम आगमिक, महायानिक और पौराणिक प्रभाव की घात-प्रतिघातात्मकता के आधार पर ही कर सकते हैं। यह निश्चित हैं कि इन तीनों में आपेक्षिक दृष्टि से आगमिक धर्म ही अधिक प्राचीन है, भले ही आज उसका लिखित साहित्य उपलब्ध न होता हो।

सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का प्राचीन वाङ्मय आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु वह था अवश्य। छान्दोग्य उपनिषद्[4] में 'एकायत'

---

१. शिवमहिम्नःस्तोत्र, श्लो० ७।

२. वीरमित्रोदय परिभाषा प्रकरण, पृ० २०, वाराणसी, सन् १९०६ ई०।

३. 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः' (मुण्डको० १।२।७)।

४. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि···वाकोवाक्यमेकायनम्···।' (७।१।२)।

शब्द आया है। यह शब्द निर्विवाद रूप से भागवत (पांचरात्र) श्रुति का निदेशक माना जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की प्रकृति अन्य उपनिषदों से सर्वथा भिन्न है। हमारा नम्र निवेदन है कि उक्त 'कृतान्तपंचक' ने न केवल वैदिक धर्म पर, किन्तु बौद्ध धर्म पर भी प्रभाव डाला। फलतः, महायान बौद्ध धर्म का आविर्भाव हुआ। महायान साहित्य और आगम साहित्य (वैष्णव और शैव) का घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन होना चाहिए। दुर्भाग्य से प्राचीन आगम-साहित्य स्वल्प मात्रा में ही बचा है, तो भी पुराणों में हमें इनका पर्याप्त अंश सुरक्षित मिल जायगा। प्राचीन पांचरात्र-संहिताओं और विशेषकर उपलब्ध शैवागमों का प्रकाशन और उनका महायानसूत्रों और पुराणों से तुलनात्मक अध्ययन होना नितांत अपेक्षित है। अग्निपुराण के अध्याय ३९-७० 'हयशीर्ष पांचरात्र'[1] के आदि काण्ड से तथा वहीं के अध्याय ७१-१०६ लीलावती शिवागम तथा सोमशम्भु-कृत 'कर्मकाण्डक्रमावली'[2]

---

१. हयशीर्ष पांचरात्र, आदिकाण्ड, पटल १-१४ (प्रथम भाग, सन १९५२ ई०); पटल १५-४४ (द्वितीय भाग, सन् १९५६ ई०), वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बंगलादेश से प्रकाशित है। अग्निपुराण के उक्त अध्यायों के वक्ता हयग्रीव अथवा भगवान् हैं। इस प्रकरण का प्रारम्भ करने से पहले अग्निपुराण में कहा गया है : 'हयशीर्षः प्रतिष्ठार्थं देवानां ब्रह्मणेऽब्रवीत्' (३८।५१)। हयशीर्ष पांचरात्र का उपदेश भगवान् हयशीर्ष ने ब्रह्मा को दिया है। अग्निपुराण के ३९वें अध्याय के प्रारम्भ में दिये गये २५ पांचरात्र तन्त्रों के नाम वे ही हैं, जो हयशीर्ष पांचरात्र के पटल २ के प्रारम्भ में पठित हैं। अग्निपुराण में भागवत संहिताओं और सामान्य सहिताओं के नाम छोड़ दिये गये हैं।

२. कर्मकाण्डक्रमावली, पृ० ३१ से १८६ (कश्मीर ग्रन्थमाला, सन् १९४७ ई०)। अग्निपुराण के इन अध्यायों के वक्ता ईश्वर हैं। 'स्कन्दायेशो यथा प्राह प्रतिष्ठार्थं तथा शृणु' (७०।९) इस उक्ति के बाद यह प्रकरण प्रारम्भ होता है। कर्मकाण्डक्रमावली संवत् ११३० की रचना है। इस ग्रन्थ के उक्त पृष्ठ—'अथ संक्षेपतो दृष्टं लीलावत्यां शिवागमे' इस श्लोक से प्रारम्भ होते हैं। यह कहा जा सकता है कि 'लीलावती' नामक शिवागम के आधार पर 'कर्मकाण्ड-क्रमावली' और 'अग्निपुराण'— दोनों में उक्त विषय का समावेश किया गया।

से मिलते-जुलते हैं, जोकि संवत् ११३० में 'लीलावतीशिवागम' की सहायता से लिखा गया ग्रन्थ है। पुराणों पर, परवर्ती काल में आविर्भूत शाक्त तन्त्रों के प्रभाव की बात को तो स्वीकार[१] किया जाता है, किन्तु इन पुराणों पर वैष्णव और शैव आगमों के प्रभाव की ओर विद्वानों की दृष्टि अभी नहीं गई है। अग्निपुराण के समान ही अन्य अनेक पुराणों में इन आगम ग्रन्थों और प्राचीन तन्त्र ग्रन्थों के पर्याप्त उद्धरणों की उपलब्धि हो सकती है। पुराण-साहित्य के लिए ही नहीं, साम्प्रदायिक[२] परवर्ती उपनिषद्-साहित्य के लिए भी यह कहा जा सकता है कि समय-समय इनमें घात-प्रतिघातात्मक पद्धति से नवीन तत्त्वों का सन्निवेश हुआ, अथवा सर्वथा नवीन साहित्य का आविर्भाव हुआ।

सर चार्ल्स ईलियट[३] ने परवर्ती भारतीय धार्मिक साहित्य को चार भागों में बांटा है : १—महाभारत-रामायण, २—पुराण, ३—तन्त्र और ४—सन्त-साहित्य, जिसमें आगमों और संहिताओं का भी समावेश किया गया है। उन्होंने तन्त्र-साहित्य को तृतीय स्थान पर रखा है। हम इसको प्रथम स्थान पर रखना चाहेंगे। अभी हम यह बता चुके हैं कि 'कृतान्तपचक' की पृष्ठभूमि में इतिहास और पुराण-साहित्य का विकास हुआ। आगमों की अपेक्षा इतिहास और पुराण-साहित्य की विशेषता यह थी कि इन्होंने वेदों का सर्वोपरि प्रामाण्य स्वीकार किया और वर्णाश्रम-व्यवस्था को कोई क्षति न पहुँचने दी। इनकी दूसरी विशेषता परस्पर विरोधी दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित करना था। इन कारणों से इतिहास-पुराण साहित्य की परिवर्त्तिता स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके विपरीत सन्त-साहित्य सीधे आगमिक एवं तान्त्रिक धारा से प्रभावित रहा है और पौराणिक समन्वयवादी दृष्टिकोण को भी वह अस्वीकार नहीं करता।

तब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इतने महत्व का यह पूरा प्राचीन साहित्य लुप्त कैसे हो गया ? पातंजल महाभाष्य, शाबरभाष्य, युक्तिदीपिका

---

१. धर्मशास्त्र०, भा० ५, अ० २६, पृ० १ एवं ४८-४९।

२. 'किन्तु ये उपनिषदें, ऐसा लगता है, तन्त्रों को आलम्ब देने के लिए (क्योंकि वे अनादृत हो चले थे) प्रणीत हुई और उनका उल्लेख राघवभट्ट एवं भास्कराचार्य (भास्करराय) जैसे मध्यकालीन (?) लेखकों ने ही किया है।' (धर्मशास्त्र, भा० ५, अ० २६, पृ० १२)।

३. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० १८६।१९१।

जैसे प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत विशाल भारतीय साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, जिसका आविर्भाव ईसा के पूर्व तथा ईसा के बाद की कुछ शतियों में हुआ था। ऐसा क्यों हुआ ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास पर कृतभूरिपरिश्रम विद्वान् ही दे सकते हैं।

बादरायण ने[1] वेदान्तसूत्र के तर्कपाद में बौद्ध और जैन दर्शन का खण्डन करने से पहले सांख्य-योग एवं वैशेषिक-दर्शन का और बाद में पाशुपत और पांचरात्र मत[2] का खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि ये सब दर्शन अवैदिक हैं। बौद्ध और जैन धर्म से भी इनकी प्रतिद्वन्द्विता चली होगी। इस दुहरी प्रतिद्वन्द्विता को और इतिहास-पुराण की संग्राहिका प्रवृत्ति को हम पांचरात्र और पाशुपत मत के प्राचीन साहित्य के नष्ट हो जाने का प्रमुख कारण मान सकते हैं।

इस परिस्थिति में पांचरात्र और पाशुपत मत ने भारतीय समन्वयवादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध महायान धर्म, जैन धर्म, पौराणिक धर्म और न्याय-वैशेषिक दर्शन पर अपनी कितनी छाप छोड़ी, इसका विश्लेषण करना अभी बाकी है। यह विश्लेषण, इनका जो कुछ अंश बचा है, उसके आधार पर भी किया जा सकता है। किन्तु खेद है कि यह विशाल आगम-साहित्य अभी अप्रकाशित एवं उपेक्षित ही पड़ा है। पांचरात्रों और पाशुपतों के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट एवं शंकराचार्य की विरोधी उक्तियों के रहते हुए भी प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने एक निश्चित अंश में उनको प्रमाण माना है।[3] तो भी यह आश्चर्य की ही बात है कि जिन आगम ग्रन्थों के सहारे आधुनिक हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि विशाल पुराण एवं स्मृति-साहित्य का,

---

१. वेदान्तसूत्र, तर्कपाद (द्वितीय अध्याय, द्वितीय पाद)।

२. पांचरात्राधिकरण की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने विशिष्ट दृष्टिकोणों से की है। आचार्य शंकर पांचरात्र आगम को कुछ अंशों में प्रमाण और कुछ अंशों में अप्रमाण मानते हैं। रामानुज इसको पूरी तरह से प्रमाण मानते हैं। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण के मत से इस अधिकरण में शाक्त मत समालोचित है। इस सम्बन्ध में हमने 'पांचरात्राधिकरण' शीर्षक निबन्ध में विस्तार से विचार किया है।

३. द्रष्टव्य: अपरार्क कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका, भा० १, पृ० १०-१९ (आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थमाला, पूना, सन् १९०३ ई०)।

धर्मशास्त्रीय निवन्ध ग्रन्थों का, स्थापत्य-कला, मूर्त्तिकला, चित्रकला और संगीतशास्त्र का विकास और पोषण हुआ, वह स्वयं उपेक्षित हो गया। वैष्णव और शैव आगमों का अध्ययन-अध्यापन स्वल्प मात्रा में केवल दक्षिण भारत में ही बचा है।

डा० भाण्डारकर के ग्रन्थ[1] से तथा अन्य प्रमाणों से भी हम जानते हैं कि किसी समय भारत में सूर्य, स्कन्द, गणेश और शक्ति के उपासक सम्प्रदाय भी विद्यमान थे। शाक्त-सम्प्रदाय भी उतना नवीन नहीं है, जितना कि उसको बताया जाता है।[2] दिनांक ५ फरवरी, १९७२ ई० के, वाराणसी के दैनिक 'आज' से पता चलता है कि मथुरा-संग्रहालय को लगभग २३०० वर्ष प्राचीन मौर्यशुंगकालीन अतिप्रसिद्ध यक्षी-प्रतिमा (मनसा देवी) मथुरा से लगभग बीस किलोमीटर दक्षिण की ओर 'झांग का नगला' नामक ग्राम से मिली है। महाभारत में दुर्गा को सम्वोधित दो स्तोत्र हैं। इनमें पहला विराट पर्व (अध्याय २३) में है। इन दोनों स्तोत्रों को क्षेपक[3] माना जाता है, किन्तु महाभारत के भाण्डारकर संस्करण में श्रीपर्वत,[4] शाकम्भरी और धूमावती देवी का वर्णन मिलता है। उदयपुर के पुरातत्व संग्रहालय में सन् ४९० ई० का एक शिलालेख[5] सुरक्षित है, जिसमें देवी की स्तुति की गई है। इस प्रसंग

---

१. 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स'। डा० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (इण्डो-आर्यन रिसर्च ग्रन्थमाला, सन् १९१३ ई०)।

२. शाक्त तन्त्रों पर वौद्ध तन्त्रों के प्रभाव का खण्डन करने के बाद डा० पी० वी० काणे महोदय ने विस्तार से शाक्त मत की प्राचीनता को सप्रमाण सिद्ध किया है (द्र० धर्मशास्त्र०, पृ० ९-१३)। उनका कहना है कि 'दुर्गापूजा अपने कतिपय रूपों में ३०० ई० से कम से कम सौ वर्ष पुरानी है।' (पृ० १२, टि० १७)।

३. धर्मशास्त्र०, पृ० १२।

४. 'श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः' (वन० ८३।१७); 'ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम्। शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता॥' (वन० ८२।११), 'धूमावतीं ततो गच्छेत्' (८२।२०)।

५. यह शिलालेख 'एपिग्राफिया इण्डिका' के व० ३०, अ० ४, पृ० १२०-१३७ में विवरण के साथ प्रकाशित हुआ है।

में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है, क्या शाक्त तन्त्र भी उतने ही प्राचीन हैं ?

नेपाल से वि० सं० २०२३ में वैरोचन का 'प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसमें शिव के पांच मुखों से आविर्भूत १६४ शैव तन्त्रों के नाम गिनाकर कहा गया है :—

सिद्धान्ते चतुर्वर्णान्नभोजनं गारुडे विषम् ।
एकत्र भोजनं घोरे वामे वामामृत तथा ।।
भूततन्त्रे शवस्पर्शः पंचस्त्रोतस्त्वयं विधिः ।

'तन्त्रालोक' की टीका 'विवेक' में जयरथ ने 'श्रीकण्ठीसहिता' के आधार पर ६४ भैरवागमों की नामावली दी है। 'नित्याषोडशिकार्णव' के प्रारम्भ में एक दूसरी, ६४ तन्त्रों की नामावली है। इसका विश्लेषण हमने उस ग्रन्थ के उपोद्घात[1] में किया है। डा० प्रबोधचन्द्र बागची[2] ने कम्बुज-शिलालेख के आधार पर चार प्राचीन तन्त्रों का उल्लेख किया है। इनके नाम शिरश्छेद, विनाशिख (शुद्ध रूप : वीणाशिख), सम्मोह तथा नयोत्तर हैं। इनके सम्बन्ध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। इन प्राचीन तन्त्रों की उपलब्धि हो जाने पर ही इनके आविर्भात्र काल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। अभी तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन सभी ग्रन्थों का आविर्भाव एक ही समय में हुआ। इस काल का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसके आधार पर अभी केवल इतना कहा जा सकता है कि इनमें अधिकांश तन्त्र आगम ग्रन्थों से कुछ भिन्न प्रकृति के हैं। किन्तु, जिन तत्त्वों के समावेश के कारण तन्त्रवाद की भर्त्सना की जाती है, वे तत्त्व इनमें उपलब्ध नहीं हैं। अर्थात्, इन तन्त्रों की प्रकृति कौल तन्त्रों से भी भिन्न है।

आगमिक अथवा तान्त्रिक उपासना का लक्ष्य भोग और मोक्ष दोनों माना गया है। भोग शब्द यहाँ ऐहिक भोग के लिए ही प्रयुक्त है, पारलौकिक नहीं।

---

१. संस्कृति विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् १९६८ ई० में प्रकाशित, उपोद्घात, पृ० २३-३१ द्रष्टव्य।

२. 'स्टडीज इन दि तन्त्राज़' पृ० १-२, इस शिलालेख में तिथि अंकित नहीं है, किन्तु शक संवत् ९७४ (= १०५२ ई०) तक की सूचनाएं इसमें प्राप्त हैं। इसमें बताया गया है कि शक संवत् ७२४ (= ८०२ ई०) में राजा जयवर्मा द्वितीय के राज्यकाल में हिरण्यदाम ने शिव कैवल्य को उक्त चार तन्त्रों की शिक्षा दी।

क्योकि, आगम शास्त्र का यह उद्घोष[1] है कि इनका अनुवर्त्तन करने से एक ही जन्म में मुक्ति प्राप्त हो जाती है। 'रुरुसिद्धान्तसंसिद्धौ भोगमोक्षौ ससाधनौ'[2] और 'शिवापदाम्भोजयुगार्चकानां भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थितैव'[3] ये दोनों ही वाक्य यद्यपि भोग और मोक्ष का विधान करते हैं, तथापि आगमिक भोग शब्द जहाँ ऐहलौकिक सामान्य ऐश्वर्य का वाचक[4] है, वहीं कुछ शाक्त तन्त्रों में प्रयुक्त भोग शब्द सम्भोग में रूढ़ हो जाता है और शाक्त तन्त्र की इस एक शाखा के कारण पूरा तन्त्र शास्त्र समालोच्य बन गया है। भोग शब्द के अर्थ में यह परिवर्तन कैसे आया? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना सरल नहीं है। सामान्यतः, विद्वानों का विचार है कि ये उपादान बौद्ध तन्त्रों में पहले प्रविष्ट हुए और उनकी लोकप्रियता[5] के आधार पर अन्य शाक्त तन्त्रों में भी इनका समावेश हो गया। तन्त्र शास्त्र की यह विशिष्ट पद्धति कुलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह परीक्षणीय है कि तन्त्र शास्त्र में कुलाचार अथवा वामाचार का प्रवेश कब और किन परिस्थितियों में हुआ।

शिव के वामदेव मुख से निर्गत वाम तन्त्रों का स्वरूप हाल में उद्धृत 'वामे वामामृत तथा' इस पद्य खण्ड से कुछ ज्ञात होता है, किन्तु इन वाम तन्त्रों और कुल तन्त्रों के साम्य-वैषम्य के विषय में अभी हम कुछ बता पाने की स्थिति में नहीं हैं। कुल अथवा कौल ग्रन्थों के विषय में अघोरशिव के एक वचन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिससे एक

---

१. इस सम्बन्ध में अवधूत सिद्ध के भक्तिस्तोत्र का ३०वां श्लोक, महार्थमंजरी परिमल (पृ० १४५) में उद्धृत शिवधर्म और परमार्थसार की योगराज कृत टीका (पृ० १६५) में उद्धृत शिवधर्मोत्तर के वचन द्रष्टव्य हैं।

२. अष्टप्रकरण स्थित सद्योज्योति कृत मोक्षकारिका की रामकाण्ड कृत टीका, पृ० १ (वाणीविलास मुद्रणालय, श्रीरंगम्, सन् १९२५ ई०)।

३. 'सौन्दर्यलहरी' की टीका सौभाग्यवर्द्धनी (पृ० २२) में उद्धृत 'अशेषकुलवल्लरी' का श्लोक।

४. इसकी तुलना वैशेषिक सूत्र के 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (१।१।२) धर्म के इस लक्षण से की जा सकती है।

५. धर्मशास्त्र०, भा० ५, अ० २६, पृ० ३७।

महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। 'मृगेन्द्रागम' की टीका में वे[1] कहते हैं :— 'हिरण्यगर्भ-कपिल मत्स्येन्द्रादयो वेद-साङ्ख्य-कौलादितन्त्राणाम्।' इससे यह ज्ञात होता है कि कौल मार्ग के प्रवर्त्तक प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र हैं। यही बात जयरथ ने भी[2] कही है। मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव-काल और गोरक्षनाथ से उनके सम्बन्ध के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये अधिकांश विद्वानों के मत से इन पंक्तियों का लेखक सहमत नहीं है। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय[3] ने मत्स्येन्द्र का आविर्भाव-काल ईसा की पांचवीं शती माना है। यह लेखक इस बात से सहमत है कि इसी के आसपास कामरूप क्षेत्र में इनका आविर्भाव हुआ। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प'[4] में शैव और वैष्णव तन्त्रों का उल्लेख है, शाक्त या कुल तन्त्रों का नहीं। इसके विपरीत, गुह्यसमाज एक कुल तन्त्र है। इसका आविर्भाव पांचवीं शती से सातवीं शती के बीच माना जाता है। अघोरशिव के वचन पर यदि हम विश्वास करें, क्योंकि अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मत्स्येन्द्र के आविर्भाव के बाद ही इस बौद्ध तन्त्र का भी आविर्भाव हुआ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपज्ञात ज्ञान को छह राजपुत्रों में बांट[5] दिया और इस प्रकार छह कुलों में उनकी यह परम्परा चली। यहां इस परम्परा के लिए 'ओवल्ली' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन ओवल्लियों में दीक्षित साधकों के नाम के अन्त में आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी शब्द जोड़े जाते थे। इसी प्रकार हम अनेक बौद्ध साधकों के नामों के अन्त में बोधि, प्रभु और पाद

---

१. विद्यापाद के नारायणकण्ठ के भाष्य पर दीपिका टीका, पृ० ७४।

२. 'सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः…मच्छन्दः' (तन्त्रालोक, भा० १, पृ० २५)।

३. अभिनवगुप्त: ए हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, द्वितीय सस्करण, सन् १९६३ ई०, पृ० ५४६।

४. पृ० २३-२४, मिथिला विद्यापीठ, दरभगा, सन् १९६४ ई०।

५. द्रष्टव्य-लेखक का 'सारस्वती सुषमा' वाराणसी के व० २०, अ० २, संवत् २०२२ में प्रकाशित 'त्रिपुरादर्शनस्यापरिचिता आचार्याः कृतयश्च' शीर्षक निबन्ध, पृ० ६३।

शब्द को प्रयुक्त देखते हैं। भारतीय साहित्य में ८४ सिद्धों की[1] परम्परा प्रसिद्ध है। इनमें सभी वर्णों और धर्मों के उत्कृष्ट साधकों के नाम मिलते हैं। राजयोग, सहजयोग, कुण्डलिनीयोग और हठयोग के साधकों की इस परम्परा में भोग शब्द सम्भोगपरक कैसे हो गया, यह एक अध्ययन का विषय है। भोग शब्द की इस नूतन व्याख्या के आधार पर, तन्त्रशास्त्र की इस शाखा में एक नवीन दृष्टि का उन्मेष हुआ, जिससे कि पूरे तन्त्रशास्त्र को भर्त्सना-योग्य बना दिया। इस आक्षेप को हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि कभी-कभी यह साहित्य कामशास्त्र[2] के घेरे में प्रविष्ट हो जाता है। मारविजयी शैव और

---

१. इन सिद्धों की नामावली अभी तक सही रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाई है, किन्तु उनमें प्रथम स्थान निर्विवाद रूप से मीननाथ (मत्स्येन्द्र) को दिया जाता है। इससे भी हमारे उक्त मत की पुष्टि होती है।

२. दि तन्त्राज़०, चक्रवर्ती, पृ० ३८ एवं ४३। काणे महोदय ने तन्त्र-शास्त्र की इस प्रकृति का विस्तार से परिचय देने के बाद उसकी समालोचना की है (पृ० २६-४८)। प्रस्तुत लेखक इस समालोचना से सहमत है। इस प्रसंग में उन्होंने सर जान वुडरफ की समालोचना की है (पृ० ३७-३९)। इस पर हमारा इतना ही कहना है कि वुडरफ महोदय ने अपने पक्ष के समर्थन में जो प्रमाण दिये हैं, वे सभी प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। 'तन्त्रालोक' (३।२२७) की टीका 'विवेक' में अर्घ-निष्पादन के प्रसंग में 'यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्ने-स्तद्रूपम्। तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत। अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्या-दित्यस्य तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत' (२।३।७) यह ऐतरेयारण्यक का वचन निर्दिष्ट है। इसी तरह से उन्होंने गुह्यसमाज तन्त्र के षडंग योग की चर्चा करते हुए लिखा है— यह अवलोकनीय है कि योगसूत्र में उल्लिखित प्रथम ३ अंगों, यथा यम, नियम एवं आसन को छोड़ दिया गया है और एक नवीन अंग 'अनुस्मृति' को जोड़ दिया गया है (पृ० २१-३०)। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यह षडंग योग विष्णुसंहिता (३०।५७-५८) जैसे पांचरात्र आगम के ग्रन्थों, भगवद्-गीता के भास्कर भाष्य (पृ० १२७) और तन्त्रालोक (४।१५) में भी वर्णित है। साथ ही नेत्रतन्त्र (मृत्युंजयभट्टारक) जैसे भैरवागम के ग्रन्थ में (८ अधिकार) पातंजल योग के आठ अंग भी स्वीकृत हैं। 'नित्याषोडशिकार्णव' के उपोद्घात (पृ० ११३-११९) में यह विषय विस्तार से चर्चित है। अतः षडंग योग की प्रवृत्ति के कुछ अन्य कारण खोजने होंगे।

बौद्ध धर्म में मार (काम) के इस अनोखे प्रवेश से ही परवर्त्ती शाक्त और बौद्ध कौल तन्त्रों की सृष्टि हुई। यह कहा जा सकता है कि धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में काम और अर्थ के अवांछनीय प्रवेश के कारण ही यह देश पराधीन हो गया और अब भी नहीं संभल रहा है।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। इनमें कुछ का परिचय हमने अन्यत्र[1] दिया है। इसकी एक दो शाखाओं में, कालान्तर में उद्भूत कुछ त्रुटियों के आधार पर पूरे शास्त्र को अग्राह्य नहीं माना जा सकता। भारत के विगत ढाई हजार वर्ष के धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक इतिहास पर आगम अथवा तन्त्रशास्त्र की गहरी छाप पड़ी है और आज का भारतीय जनजीवन वैदिक धर्म की अपेक्षा तान्त्रिक धर्म से अधिक संचालित है।

पूरा तान्त्रिक दर्शन जगत् को मायानिर्मित या अलीक नहीं मानता। इस जगत् को वह परम तत्त्व की ही परिणति मानता है। जैसे तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाए-उपशाखाएं हैं, वैसे ही उनकी दार्शनिक चिन्ता भी अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में बंटी है। इन शाखाओं में नाद, विन्दु, कला प्रभृति शब्दों की अपनी-अपनी व्याख्याएं हैं। कुछ शाखाओं के ये मौलिक तत्त्व हैं। आगमिक अथवा तान्त्रिक षडध्व प्रक्रिया के ये अंग हैं। यह स्वाभाविक है कि केवल 'प्रपंचसार,' 'शारदातिलक' जैसे परवर्ती काल की रचनाओं को इनका मूल मानने वालों[2] की दृष्टि में इनका अर्थ स्पष्ट न प्रतीत होता हो।

प्रसंगवश, यह कहना अस्वाभाविक नहीं माना जायगा कि तान्त्रिक वाङ्मय में 'प्रपंचसार' और 'शारदातिलक' का अपना वैशिष्ट्य है। इनमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति, सूर्य स्कन्द आदि की सभी तान्त्रिक उपासना-विधियों को एक कर दिया गया है। इन ग्रन्थों को हम स्मार्त्त धर्म का आधार मान सकते हैं। 'प्रपंचसार' के साथ शंकराचार्य का नाम जुड़ा है। ग्यारहवीं शती की 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति'[3] में यह ग्रन्थ उद्धृत है। छठी-सातवीं से

---

१. द्रष्टव्य : शिवपुराणीयं दर्शनम्, पुराण, वाराणसी, व० ७, अं० १, पृ० १६२-१६७, जनवरी, १९६५ ई०; कालवदनः कालदमनो वा, सारस्वती सुषमा, व० १९, अं० ४, पृ० २५५-२५६, संवत् २०२१; नित्याषोडशिकार्णव, उपोद्घात, पृ० ५१-५९; इस प्रसग में चक्रवर्त्ती के दि तन्त्राज० का 'तन्त्र स्कूल्स' नामक अध्याय भी द्रष्टव्य।

२. धर्मशास्त्र०, पृ० २६।

३. प्रथम भाग, पृ० ४० एवं ७१, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत ग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम्, सन् १९२०।

दसवीं-ग्यारहवीं शती के बीच प्रकट हुआ विपुल तान्त्रिक साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा है। इसके प्रकाशन के बाद ही 'प्रपंचसार' और 'शारदातिलक' का सही मूल्यांकन किया जा सकता है; क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ इसके पूर्व आविर्भूत सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों और तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

हमने ऊपर बताया है कि ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग, वैशेषिक, बौद्ध और जैन दर्शन के साथ पाशुपत और पांचरात्र-मत का भी खण्डन किया गया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इन सभी मतों को अवैदिक और अनौपनिषदिक बताया। इसके विपरीत आगम वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में आगमशास्त्र को वेद से ऊंचा स्थान दिया गया था। इस प्रसंग में 'कुलार्णवतन्त्र' (२।७-८) के दो श्लोक द्रष्टव्य हैं। उनका भाव यह है कि सभी शास्त्रों में वेद सर्वोत्तम है, किन्तु इनसे भी ऊंचा स्थान क्रमशः आगमिक अथवा तान्त्रिक वाङ्मय की वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम और सिद्धान्त शाखाओं का है और इनमें कौलमत का स्थान सर्वोपरि है। अभिनवगुप्त[1] भी वेद, शैव, वाम, दक्ष, कुल, मत और त्रिक शाखाओं का क्रमशः गरीयस्त्व मानते हैं। किन्तु शंकराचार्य के आविर्भाव के बाद धीरे-धीरे तान्त्रिक वाङ्मय ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की अपेक्षा अपने मत को वैदिक और औपनिषदिक सिद्ध करने में ही पूरी शक्ति लगा दी।[2] इसका जो अंश स्वीकृत हुआ, वह वैदिकीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही। इसके विपरीत, तन्त्रशास्त्र की विद्रोही शाखा में धर्म और आध्यात्मिकता (मोक्ष) के आवरण में काम और अर्थ ने प्रवेश पा लिया। उसका जो परिणाम हुआ, उसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। फलतः बौद्ध धर्म के साथ ही यह तान्त्रिक धर्म भी यहां उपेक्षित हो गया।

म० म० पी० वी० काणे[3] महोदय ने लिखा है—'तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से सम्बद्ध इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। सायण-माधव भाइयों (१४वीं शती) ने 'सर्वदर्शनसंग्रह'

१. परात्रिंशिकाव्याख्या, पृ० ९२।
२. यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य, रामानुज के पांचरात्राधिकरण, वेदान्त-देशिक की पांचरात्ररक्षा, भट्टोजिदीक्षित के तन्त्राधिकारिनिर्णय प्रभृति ग्रन्थों में यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।
३. धर्मशास्त्र०, पृ० ७७।

नामक ग्रन्थ में पन्द्रह दर्शनों की चर्चा की है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने तन्त्रों के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा, जबकि इन्होंने चार्वाक-दर्शन एवं बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असम्भव है कि इन दो विद्वान् भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञान नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के राजा बल्लालसेन ने अपने 'दानसागर' में 'देवीपुराण' को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से सम्भवतः इन विद्वान् भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की। इतना ही नहीं, तब तक तन्त्र ग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग उनका विरोध करने लग गये थे। उनकी यह बात शाक्त तन्त्रों की केवल ऊपर चर्चित शाखा के लिए ही लागू हो सकती है। 'प्रपंचसार'[1] और 'शारदातिलक'[2] में तान्त्रिक दर्शन तथा अन्य सामान्य विषयों का निरूपण करने के बाद सर्वप्रथम शक्ति की उपासना वर्णित है। 'सौन्दर्यलहरी' की टीका में लक्ष्मीधर[3] ने कुलाचार को अवैदिक और समयाचार को वैदिक सिद्ध किया है और आज भी महान् आचार्य शंकर के द्वारा स्थापित मठों की परम्परा में त्रिपुरा की उपासना उसी विधि से सम्पन्न होती है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में भी न(ल)कुलीश पाशुपत, शैव दर्शन, प्रत्यभिज्ञा दर्शन और रसेश्वर दर्शन के अलग-अलग प्रकरण हैं। ये सभी दर्शन आगम और तन्त्रशास्त्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्णप्रज्ञ दर्शन की

---

१. नवम पटल द्रष्टव्य। यहां सर्वप्रथम त्रिपुरा की उपासना वर्णित है।

२. सप्तम से द्वादश पटल पर्यन्त।

३. इस प्रसंग में यह बताना आवश्यक है कि 'सौन्दर्यलहरी' के 'चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः' प्रभृति श्लोक में ६४ तन्त्रों के उल्लेख के बाद कहा गया है। 'स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्' (३१ श्लोक। यहां स्वतन्त्रतन्त्र पद से प्राचीन और आधुनिक विद्वान् ज्ञानार्णव, कादिमत, स्वतन्त्रतन्त्र आदि का उल्लेख करते हैं। नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात पृ० १२-१३) में हमने सिद्ध किया है कि यहां स्मृत ६५वां तन्त्र नित्याषोडशिकार्णव ही है। इन ६४ तन्त्रों को लक्ष्मीधर ने अवैदिक सिद्ध किया है पृ० १३७ १३८)। भास्करराय इससे सहमत नहीं हैं (नित्या०, सेतुबन्ध, पृ० २४)। द्रष्टव्य-नित्या०, उपोद्घात, पृ० २३-३१।

व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सर्वदर्शनसंग्रहकार ने कहा है कि 'पांचरात्रोपजीव्यत्व'[१] रामानुज और माध्वदर्शन की समान विशेषता है।

तन्त्रशास्त्र का अध्ययन हमें इस शास्त्र के मध्यकालीन (१०-११वीं शती) महान् आचार्य अभिनवगुप्त के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' को केन्द्रबिन्दु मानकर करना चाहिए। अभिनवगुप्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा में उद्धृत विशाल आगमिक एवं तान्त्रिक साहित्य को हम प्राचीन तथा इससे भिन्न साहित्य को नवीन काल में आविर्भूत मानते हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से इनका यह समय, प्रकृति और प्रतिपाद्य विषय का भेद स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। अभिनवगुप्त से पहले और बाद में आविर्भूत तन्त्रशास्त्र के अध्ययन को एक में मिला देने से नाना प्रकार की भ्रान्तियां उठ खड़ी हुई हैं। हम तन्त्रशास्त्र के आगम-निगम अथवा[२] आगम, यामल, तन्त्र इन विभागों को ही लें, अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन ग्रन्थों में आगम और निगम जैसा विभाजन उपलब्ध नहीं होता। साधारणतः, यहां का आगम शब्द तन्त्रशास्त्र के अर्थ में और निगम शब्द वेद, वेदांग, दर्शन आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। शिव अथवा देवी द्वारा उपदिष्ट उभयविध साहित्य आगम-कोटि के अन्तर्गत ही आता है।[३] क्रमदर्शन के अधिकांश आगम-ग्रन्थ देवी के द्वारा ही उपदिष्ट हैं। इस दर्शन में काली प्रधान उपास्य देवता हैं। इस उपासना का स्वरूप बंगाल में आजकल प्रचलित काली की उपासना से नितान्त भिन्न है। 'कुलचूडामणि' क्षेमराज की 'शिवसूत्रविमर्शिनी'[४] में उद्धृत है। यहां का श्लोक कलकत्ता से प्रकाशित 'कुलचूडामणिनिगम' में उपलब्ध नहीं है। स्पष्ट है कि यह संस्करण और उसके साथ निगम शब्द का संयोजन परवर्ती काल का प्रभाव है। यही बात 'कुलार्णवतन्त्र' और 'तन्त्रराजतन्त्र' के विषय में कही जा सकती है।

---

१. द्रष्टव्य : पृ० ४६ (आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला, पूना, सन् १६२८ ई० संस्करण)।

२. ये उभयविध विभाग इस निबन्ध में ऊपर उद्धृत प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलते हैं।

३. डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय : अभिनवगुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ० ४६७ एवं ५५१।

४. द्रष्टव्य : पृ० ५८, कुलार्णवतन्त्र और तन्त्रराजतन्त्र के तन्त्रालोक-विवेक में उद्धृत वचन इन नामों से प्रकाशित ग्रन्थों में नहीं मिलते।

'तन्त्रालोकविवेक'[1] में उद्धृत 'श्रीकण्ठीसंहिता' के अनुसार, यामलों का चौंसठ भैरवागमों में अन्तर्भाव है। अतः, इनकी प्रकृति अन्य भैरवागमों के अनुकूल ही होगी। 'वाराहीतन्त्र'[2] के आधार पर इनकी नई व्याख्या कालभेद के कारण ही सम्भव है।

तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० चिन्ताहरण चक्रवर्ती की पुस्तक 'दि तन्त्राज : स्टडीज आन देयर रिलीजन ऐण्ड लिटरेचर, को हम इस विषय की अब तक प्रकाशित पुस्तकों में सबसे अधिक युक्तिसंगत मानते हैं। इस ग्रन्थ के प्रारंभिक कुछ अध्यायों के निष्कर्षों से हम प्रायः सहमत हैं। असहमति वहीं उपस्थित होती है, जहां वे अभिनवगुप्त के परवर्ती काल में आविर्भूत शास्त्रों को पूर्ववर्ती अध्ययन में प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं। बाद के अध्यायों में इनका अध्ययन पूर्णतः परवर्ती काल में आविर्भूत ग्रन्थों के आधार पर ही उपस्थित किया गया है। जब वे स्वयं कहते हैं कि[3] "तान्त्रिक पूजा-विधि ने हिन्दू-समाज के धार्मिक जीवन में लगभग ४००-५०० वर्ष से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है"। यह बात बंगाल के विषय में ही सही है कि वहां का जनजीवन इस काल में आविर्भूत इस नवीन तान्त्रिक धारा से ही पूरा प्रभावित रहा है। इससे हमारी इस स्थापना को बल मिलता है कि परवर्ती काल का यह सारा साहित्य बगाल में ही आविर्भूत हुआ था। पांचरात्र और पाशुपत मत की प्राचीनता का उल्लेख करते हुए भी ये इसके पूर्ववर्ती प्रभाव को आगमिक अथवा तान्त्रिक न मानकर अन्य विद्वानों के समान ही उसे पौराणिक[4] मानते हैं। इस सम्बन्ध में हम अपने विचार पहले बता चुके हैं।

प्राचीन पांचरात्र और पाशुपत साहित्य अब उपलब्ध नहीं है। वैष्णवागम मुख्यतः तीन भागों में बंटा है—वैखानस, पांचरात्र और भागवत। वैखानस आगम के कुछ ग्रन्थ तिरुपति से प्रकाशित हुए हैं। पांचरात्र आगम में सात्वत, पौष्कर और जयाख्य संहिताओं का विशेष सम्मान है। 'सात्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः' (भीष्म० ६६।४०) महाभारत के इस श्लोक में विद्वानों के अनुसार 'सात्वतसंहिता' का उल्लेख है। यह संहिता 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' (५।५६) में भी उद्धृत है। 'जयाख्यसहिता' बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। 'जयाख्यसंहिता' और 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' की प्राचीनता के विषय में विद्वानों ने

---

१. द्रष्टव्य : भा० १, पृ० ४२-४३।
२. दि तन्त्राज० : चक्रवर्ती, पृ० २।
३. तत्रैव, पृ० ४६।
४. तत्रैव, पृ०

पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'हयशीर्ष पांचरात्र' में पांचरात्र और भागवत तन्त्रों की नामावली है। डा० श्रॉडर महोदय ने 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' की भूमिका में इन सबको 'पांचरात्र संहिता' मान लिया है। यामुनाचार्य के 'आगम-प्रामाण्य', रामानुजाचार्य के 'पांचरात्राधिकरण' तथा वेदान्तदेशिक की 'पांच-रात्ररक्षा' में अनेक संहिताएं प्रमाण-रूप में उद्धृत हैं। 'अनिरुद्धसंहिता' के सम्पादक श्रीआसूरि श्रीनिवास अय्यंगार (मैसूर) के अनुसार, अब तक २७५ संहिताओं की नामावली उपलब्ध हो चुकी है।

ईसा की दूसरी शती में पाशुपत योगाचार्यों की परम्परा में लकुलीश का आविर्भाव हुआ। इनका मत लकुलीश-पाशुपत के नाम से 'सर्वदर्शनसंग्रह' में संगृहीत है। इनका पाशुपतसूत्र कौण्डिन्य के भाष्य के साथ त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित है। 'गणकारिका' बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। लकुलीश पाशुपत मत के उपलब्ध साहित्य का परिचय डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने 'शैवदर्शनबिन्दु' (संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) में दिया है। लकुलीश से विद्यागुरु पर्यन्त १८ आचार्यों की नामावली[1] मिलती है। इनका विशाल साहित्य आज नामशेष हो चुका है।

शिव के पांच मुखों से विनिर्गत शास्त्रों की चर्चा ऊपर की गई है। अट्ठाईस शैवागमों के अतिरिक्त २०७ उपागमों[2] की नामावली पाण्डिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के प्रारम्भ में दी गई है। इन मूल आगमों के अतिरिक्त, उग्रज्योति से अघोरशिव पर्यन्त अट्ठारह पद्धतिकारों, व्याख्याकारों और भाष्य-कारों का विशाल साहित्य 'सिद्धान्त' पद से अभिहित हुआ है। बौद्ध तन्त्रों की विशाल राशि भोट-भाषा में अनुवाद के रूप में तथा मूल रूप में भी उपलब्ध है। 'श्रीकण्ठीसंहिता' और 'नित्याषोडशिकार्णव' में परिगणित चौंसठ तन्त्रों के अतिरिक्त कुल, क्रम और त्रिक आगमों का विशाल साहित्य 'तन्त्रा-लोक' आदि में उद्धृत मिलता है। इस सारे वाङ्मय का समावेश हम प्राचीन साहित्य में करते हैं।

---

१. २८ योगाचार्यों, उनके ११२ शिष्यों एवं १८ आचार्यों की नामावली के लिए द्रष्टव्य:—शिवपुराणीयं दर्शनम्, पुराण, व० ७, अ० १, पृ० १६७-१६६।

२. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० २०५ में उपागमों की संख्या केवल १२० बताई गई है।

इस विशाल आगमिक और तान्त्रिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि में किया गया अध्ययन इस शास्त्र के विषय में उत्पन्न की गई अनेक भ्रान्तियों को स्वतः निर्मूल कर देगा और भारतीय विद्या के विद्वानों के लिए नूतन दिशा-निर्देश करने में समर्थ होगा।

१. 'तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद,' २. 'काश्मीरीय शैवदर्शन,' ४. 'तान्त्रिक बौद्ध साधना,' ४. 'तान्त्रिक दृष्टि', ५. 'वैष्णव साधना और साहित्य,' ६. 'सहजयान और सिद्धमार्ग' प्रभृति निबन्धों में तथा अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ 'तान्त्रिक साहित्य' में श्रद्धेय कविराज जी ने आगम शास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र में समाविष्ट सम्पूर्ण साहित्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इससे इस साहित्य की विशालता और दार्शनिक गम्भीरता का परिचय मिलता है। कविराज जी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्ध दर्शन और मायावादी शांकर दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुचाया था। महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की 'परिमल' टीका में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे प्रतिष्ठित किया है।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकासका ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति-साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति कविराज जी ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान और शाक्तदर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने

पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी, इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराजजी को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया। जहाँ तक योग का प्रश्न है, 'व्यासभाष्य'[1], 'विज्ञानभैरव' और 'विरूपाक्ष-पंचाशिका' ये तीनों ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे। इन ग्रन्थों को उन्होंने शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक इनकी अथाह गम्भीरता को उद्भावित करते हुए पढ़ाया था। उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा।

इस नवीन दृष्टि के आविर्भावक उस क्रान्तदर्शी मनीषी को आज हम शत-शत बार श्रद्धा-सुमनांजलि समर्पित करते हैं, जिसने यथार्थवादी जीवन के प्रेरणास्रोत इस आगमिक और तान्त्रिक साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिए ही अपने पूरे जीवन को समर्पित कर दिया था॥

---

१. हिन्दी अनुवाद और विस्तृत उपोद्घात के साथ यह ग्रन्थ हाल में वाराणसी (मोतीलाल बनारसीदास) से प्रकाशित हुआ है।

———

[1]तान्त्रिक संस्कृति और वाङ्मय

तान्त्रिक शब्द आज बदनाम सा हो गया है। मात्र जादू-टोना और मन्त्र-यन्त्र आदि के उपयोग तक ही आज यह शब्द सीमित कर दिया गया है। धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। इतिहास के ग्रन्थों में शैव और वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका सम्बन्ध तान्त्रिक वाङ्मय से न जोड़कर पुराणों से जोड़ा जाता है। भारतीय इतिहास, विशेष कर उसके धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की इस त्रुटि की ओर आज हम विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

केवल महाभारत ही नहीं, प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों में भी पांचरात्र धर्म तथा कृष्ण-बलदेव आदि का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में अहिंसक पांचरात्र सत्र का विधान है। पांचरात्र धर्म के अनुयायी राजा वसु उपरिचर ने अहिंसक सत्र का अनुष्ठान किया था। शतरुद्रिय अध्याय में पशुपति शिव स्तेन और तस्कर ही नहीं, शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जाने वाले लोगों के भी देवता हैं। महाभारत में श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आद्य प्रवक्ता माना है। ये पांचरात्र और पाशुपत मत ही वैष्णव और शैव धर्म के मूल स्रोत हैं। बौद्ध और जैन धर्म से भी पहले भारतीय संस्कृति की इस धारा ने वैदिक धर्म में आवश्यक संशोधन-परिवर्तन का प्रयत्न किया सही, तो भी इसने कभी भी बौद्ध और जैन धर्म के समान वैदिक धर्म की सर्वथा अवहेलना नहीं की। इस धारा का वाङ्मय पहले आगमशास्त्र और बाद में तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित हुआ है।

आज से लगभग ६० वर्ष पहले श्री रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स'

---

१. विश्वज्योति, होशियारपुर (व० १९, अ० ३, पृ० ३३-३७, जून १९७०) में प्रकाशित।

(वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत) में तान्त्रिक संस्कृति की न केवल वैष्णव और शैव, अपितु शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का भी प्राथमिक परिचय देने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न जहां तक हमारा परिचय है, आगे नहीं बढ़ पाया। तन्त्रशास्त्र की पांचरात्र, शैव, शाक्त, बौद्ध और आदि धाराओं पर स्वतन्त्र ग्रन्थ अवश्य लिखे गये, किन्तु ये सब प्रयत्न ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नहीं किये गये और न इन धाराओं की परस्पर अनुस्यूतता की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया। अधुना इस प्रकार के समन्वित प्रयत्न की प्रेरणा देने का एकमात्र श्रेय श्रद्धेयचरण महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज महोदय को दिया जा सकता है। उनके ग्रन्थों, निबन्धों और मौखिक उपदेशों में विभिन्न तान्त्रिक धाराओं के समन्वित रूप के दर्शन बराबर होते रहते हैं।

भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा में वर्णाश्रम व्यवस्था का कड़ाई से पालन किया जाता था। हिंसा प्रधान कर्मकाण्डों की इसमें कभी प्रचुरता हो गई थी। इसका औपनिषद, तान्त्रिक, बौद्ध और जैन धाराओं ने विरोध किया। औपनिषद धारा का वैदिक ज्ञानकाण्ड में समावेश हो गया। बौद्ध और जैन धाराओं ने वेद का प्रामाण्य अस्वीकार कर दिया। तान्त्रिक धारा इन वैदिक और अवैदिक धाराओं के बीच समानान्तर रूप से बहती रही। महाभारत के काल से लेकर महिम्नस्तोत्र की रचना के समय तक भारतीय साहित्य में वेद, सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का समान स्वतन्त्र प्रामाण्य अभिप्रेत था। रामायण, महाभारत, भगवद्गीता और पुराणों में इन सभी मतों के समन्वय का प्रयत्न हुआ। परवर्ती धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने भी इनको वेद के बाद स्मृति के समान ही प्रमाणभूत माना। तान्त्रिक संस्कृति की अन्य शाखाओं के समान ही बौद्ध और जैन धर्म के अनुवर्तियों में भी तान्त्रिक योग और विशिष्ट कर्मकाण्ड पद्धति का विकास हुआ है। इनकी मूल मान्यतायें सर्वत्र समान हैं। आज के हिन्दू धर्म पर वैदिक धारा की अपेक्षा इस तान्त्रिक धारा का अधिक गहरा प्रभाव है। तान्त्रिक संस्कृति की पांचरात्र और पाशुपत धारा के सातत्य में शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द और सौर धाराओं का किस प्रकार विकास या समावेश हुआ और आज वे किस रूप में भारतीय संस्कृति में घुलमिल कर एक हो गई हैं, यह एक रुचिकर अध्ययन का विषय है।

इस तान्त्रिक संस्कृति ने बौद्ध और जैन धारा के समान वैदिक संस्कृति से ही अपने उपादान प्राप्त किये, अथवा ऐतिहासिकों के द्वारा निर्धारित वेदपूर्व आर्येतर सभ्यता का भी इनको अवदान प्राप्त हुआ, इस विवाद में हम अभी

पड़ना नहीं चाहते। इस विषय में सही निर्णय तो तभी किया जा सकता है, जबकि सिन्धु घाटी में उपलब्ध लिपि को पढ़ने का निर्विवाद समाधान प्राप्त हो जाय। यों वैदिक साहित्य में भी तान्त्रिक संस्कृति, विशेष कर पांचरात्र और पाशुपत मत के उपादान बहुतायत से मिलते हैं और अनेक विद्वानों ने उनको दर्शाया भी है। अन्तर इतना ही है कि यहां पर पांचरात्र और पाशुपत शब्द के स्थान पर वैष्णव और शैव शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो कि उचित नहीं है। वस्तुत ये दोनों शब्द परवर्ती हैं और ये पौराणिक संस्कृति की अभिव्यक्ति करते हैं। हमारी दृष्टि में पौराणिक साहित्य में किसी नवीन दार्शनिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया गया है, किन्तु वेद, योग, सांख्य, पांचरात्र और पाशुपत मत के अतिरिक्त बौद्ध और जैन संस्कृति का तथा साथ ही समय-समय पर प्रचलित हुए शाक्त, गाणपत्य, स्कान्द, सौर आदि मतों के सिद्धान्तों का भी समन्वय कर अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का योजनाबद्ध सुव्यवस्थित प्रयत्न इनमें परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से पुराणों का अध्ययन करने पर ही हम यहां के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास के क्रमिक विकास का सही मूल्यांकन कर सकते हैं। हमारे मत से न केवल पुराणों, अपितु सांप्रदायिक उपनिषदों का भी इसी दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाना चाहिये। भारतीय संस्कृति के अविरल पावन प्रवाह में विभिन्न धाराओं के उद्‌गम के बाद ही उनको मूल धारा में मिलाने का प्रयत्न हुआ, यही मानना उचित और तर्क संगत प्रतीत होता है। अल्लोपनिषद् को हम इसी प्रकार के उपक्रम की कड़ी मान सकते हैं।

तान्त्रिक उपासना में सभी को समान अधिकार दिया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य के बाद जैसे ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की परम्परा चली, उनसे पहले छान्दोग्य उपनिषद् पर भाष्य लिखने का प्रचलन था। इस पर द्रविड़ाचार्य के भाष्य का उल्लेख मिलता है। सुन्दरपांड्य ने भी संभवतः इसी पर भाष्य लिखा था। छान्दोग्य के वृत्तिकार और वाक्यकार का भास्कर ने अपने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उल्लेख किया है। स्वयं भास्कर ने छान्दोग्य उपनिषद् पर विस्तृत भाष्य लिखा था। श्रीभाष्य में रामानुजाचार्य बार-बार वाक्यकार को उद्‌धृत करते हैं। सत्यकाम जाबाल और महिदास ऐतरेय की कथा छान्दोग्य उपनिषद् में ही है। रैक्व और जानश्रुति की कथा भी इसी में है। देवकीपुत्र श्रीकृष्ण और अघोर आंगिरस का संवाद इसी में मिलता है। एकायन विद्या का भी यहां उल्लेख है, जोकि पांचरात्र श्रुति का

ही दूसरा नाम है। इस उपनिषद् में वर्णित ध्रुवा स्मृति को रामानुज भक्ति की संज्ञा देते हैं, जो कि उनका स्वोपज्ञ विचार न होकर परम्परा से प्राप्त मालूम होता है। ब्रह्मसूत्र के आधार पर आद्य शंकराचार्य के द्वारा अपने मत की स्थापना कर लेने के बाद वैष्णव और शैव आचार्यों ने भी अपने मत के समर्थन के लिये ब्रह्मसूत्र का आश्रय लिया और अपशूद्राधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में उनको शंकराचार्य के मत को मानना पड़ा।

ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग, वैशेषिक, बौद्ध और जैन दर्शन के साथ पाशुपत और पांचरात्र मत का भी खण्डन किया गया है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इन सभी मतों को अवैदिक और अनौपनिषद बताया। तान्त्रिक वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में आगमशास्त्र को वेद से ऊंचा दर्जा दिया गया था। भास्करराय ने नित्याषोडशिकार्णव की अपनी व्याख्या सेतुबन्ध में कुलार्णव तन्त्र के दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उनका भाव है कि सभी शास्त्रों में वेद सर्वोत्तम हैं, किन्तु इनसे भी ऊंचा स्थान क्रमशः तान्त्रिक वाङ्मय की वैष्णव, शैव, दक्षिण, वाम, सिद्धान्त शाखाओं को है और कौल मत तो सर्वोपरि है। अभिनवगुप्त भी वेद, शैव, वाम, दक्ष, कुल, मत और त्रिक शाखाओं का क्रमशः गरीयस्त्व मानते हैं। शंकराचार्य का यह जादू ही माना जायगा कि उनके बाद तान्त्रिक वाङ्मय ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखने की अपेक्षा अपने मत को वैदिक और औपनिषद सिद्ध करने में ही पूरी शक्ति लगा दी। इसी का यह परिणाम हुआ कि उत्तर भारत में तान्त्रिक संस्कृति का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं रह गया। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि सिद्धान्त शैवों के मूल २८ आगमों का आविर्भाव मध्यदेश में ही हुआ था।

दक्षिण भारत में वैष्णव आगम की पांचरात्र और वैखानस शाखाओं का विशाल साहित्य अब भी उपलब्ध है। तिरुपति और श्रीरंगम् जैसे दक्षिण भारत के प्रसिद्ध मन्दिरों की पूजाविधि इन्हीं पर आधृत है। जर्मन विद्वान् श्राडर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में २१५ पांचरात्र संहिताओं का उल्लेख किया था। मद्रास से अभी हाल में ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है — पेनारोमा आफ पांचरात्र लिटरेचर'। इसमें अब तक उपलब्ध १०४ पांचरात्र संहिताओं का विस्तृत विवरण प्रकाशित किया गया है और लगभग ३०० संहिताओं के नाम एकत्रित किये गये हैं। तिरुपति के केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के विद्वान् पण्डित आसूरि श्रीनिवास आयंगार ने इस सूची में और कुछ नवीन नाम जोड़े हैं। इस प्रकार दक्षिण भारत की जागरूकता के कारण विशाल पांचरात्र साहित्य आज भी सुरक्षित है।

पाशुपत आगम की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। लकुलीश पाशुपत मत के कुछ ग्रन्थ हमको मिलते हैं। लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपत आचार्यों के नाम जैन ग्रन्थों में भी उपलब्ध हैं। किन्तु लकुलीश से पूर्व के उस पाशुपत मत का, जिसकी कि प्रतिष्ठा महाभारत के अनुसार श्रीकण्ठ ने की, कुछ भी स्वतन्त्र साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। कई पुराणों में २८ पाशुपत योगाचार्यों और उसमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की लम्बी नामावली उपलब्ध होती है, किन्तु किसी के किसी ग्रन्थ का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं, कुछ ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों, रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति ग्रन्थों से ही हम आज उस प्राचीन पाशुपत मत का परिचय प्राप्त कर सकते हैं। सिद्धान्त शैव संप्रदाय के मूल एवं टीका ग्रन्थों में हमें पांचरात्र और पाशुपत मत के दार्शनिक सिद्धान्तों का पता चलता है, जहां पर कि वे पूर्व पक्ष के रूप में उद्धृत हैं। अभिनवगुप्त और स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैष्णव के समय तक केवल काश्मीर में ही नहीं, पूरे उत्तर भारत में पांचरात्र, पाशुपत और सिद्धान्त शैव दर्शन का व्यापक अध्ययन होता था। बाद में वह केवल दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्रों तक ही सिमट कर रहा गया। पांडिचेरी से अभी हाल में प्रकाशित रौरवागम के प्रारम्भ में २०७ सिद्धान्त शैवागमों की लम्बी सूची दी गयी है।

वामन पुराण (६।८०-९१) में वर्णव्यवस्था के अनुरूप शैवागम के भी चार विभाग किये गये हैं। वहां बताया गया है कि ब्राह्मण को सिद्धान्त शैवागम की पद्धति से, क्षत्रिय को पाशुपत विधि से, वैश्य को कालामुख और शूद्र को कापालिक विधि से शिव की आराधना करनी चाहिये। कापालिक को यहां महाव्रतधर भी कहा गया है। कर्णाटक में कोल्हापुर और येलम्मा (रेणुका) ये दो प्रसिद्ध देवी तीर्थ हैं। रेणुका मन्दिर के निकटवर्ती ग्राम हुली में किसी समय कालामुख संप्रदाय के अनेक मन्दिर अवस्थित थे। आज भी वीरशैव सम्प्रदाय के अनुवर्तियों में जैन धर्म के समान ही व्यापारी वर्ग का प्राधान्य है। जैन साहित्य में ६३ शलाका पुरुषों का वर्णन मिलता है। शैवागम साहित्य में भी ६३ शैवाचार्यों की कथायें मिलती हैं। शाक्त और बौद्ध तन्त्र की बाह्य उपासना विधि में कापालिक अथवा महाव्रतधरों की विधि का बाहुल्येन अनुसरण किया गया है। इनके अनेक भेदों और उपभेदों की उपलब्ध वाङ्मय में चर्चा है। श्रीकण्ठसंहिता, नित्याषोडशिकार्णव आदि ग्रन्थों में

६४ तन्त्रों की नामावली मिलती है, जो कि एक दूसरे से भिन्न है। श्राडर ने जिस प्रकार पांचरात्र संहिताओं की नामावली प्रस्तुत करने का श्रीगणेश किया, उसी पद्धति पर इन ग्रन्थों की विशिष्ट तालिका प्रस्तुत की जा सकती है। उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति ने म० म० पं० गोपीनाथ कविराज जी के निर्देशन में तान्त्रिक वाङ्मय की एक विस्तृत परिचय पुस्तिका तैयार करवाई थी, जिसमें कि बौद्ध और जैन तन्त्रों का भी समावेश था। यह बड़ दुःख का विषय है कि उसका प्रकाशन अब तक नहीं हो सका है।

किसी समय कोणार्क, कालपी और मुलतान (पश्चिमी पाकिस्तान) स्थित मन्दिरों में सूर्य की क्रमशः प्रातः, मध्याह्न और सायंकालीन उपासना की जाती थी। दक्षिण भारत और विशेष कर केरल में आज भी सुब्रह्मण्य के रूप में कुमार स्कन्द की उपासना प्रचलित है। महाराष्ट्र, गुजरात और राजस्थान में भाद्र शुक्ल चतुर्थी को बड़े उत्साह के साथ गणपति जयन्ती मनाई जाती है और काशी में माघ कृष्णा चतुर्थी को गणपति के उपासकों की विशाल भीड़ के दर्शन होते हैं। पुराणों में तो इनकी उपासना-विधि की चर्चा है ही, साथ ही गणेश, सौर आदि उपपुराण भी उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त हस्त लिखित ग्रन्थों के संग्रहालयों में इन संप्रदायों के अनेकानेक ग्रन्थ विद्यमान हैं।

तान्त्रिक वाङ्मय में प्रपंचसार और शारदातिलक का अपना वैशिष्ट्य है। इनमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति, सूर्य और स्कन्द आदि की सभी तान्त्रिक उपासना विधियों को एकत्र कर दिया गया है। इन ग्रन्थों को हम स्मार्त धर्म का आधार मान सकते हैं। प्रपंचसार के साथ शंकराचार्य का नाम जुड़ा हुआ है। ग्यारहवीं शताब्दी की ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में यह ग्रन्थ उद्धृत है। छठी-सातवीं से दशवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के बीच आविर्भूत हुआ विपुल तान्त्रिक साहित्य अभी अप्रकाशित ही पड़ा है। इसके प्रकाशन के बाद ही प्रपंचसार का सही मूल्यांकन किया जा सकता है।

हमने ऊपर बताया है कि तान्त्रिक वाङ्मय में वैदिकीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, किन्तु यह प्रक्रिया प्रधानतः संस्कृत भाषा के माध्यम से ही कार्यरत रही। भगवान् बुद्ध और महावीर के प्रभाव से तान्त्रिक संस्कृति में भी जनभाषा में साहित्य निर्माण का शुभारम्भ हुआ और दक्षिण भारत में तमिल भाषा के माध्यम से वैष्णव आलवार और शैव सन्तों का विशाल साहित्य आविर्भूत हुआ। उत्तर भारत में चौरासी सिद्धों और नाथों का आविर्भाव तान्त्रिक परम्परा की ही देन है। आलवार, शैव सन्त, नाथ और सिद्धों में सभी धर्मों और वर्णों के प्रतिनिधि जन थे। इनके उपदेश ही इसके

बाद विविध भाषाओं के माध्यम से पूरे देश में विकसित हुये सन्त साहित्य के प्रेरणा-स्रोत थे।

वैष्णव आलवारों और आचार्यों की परम्परा में रामानुजाचार्य का आविर्भाव हुआ था। इन्होंने यामुनाचार्य के मार्ग पर चल कर वैदिकीकरण की प्रक्रिया को बल दिया, किन्तु इन्हीं के प्रधान शिष्य कूरेश ने आलवारों की कृतियों की व्याख्या के रूप में विकसित तमिल साहित्य में महत्वपूर्ण योगदान किया और तान्त्रिक परम्परा की उदात्त भावनाओं को जीवित रखा। दक्षिण भारत में संस्कृत भाषा और तमिल भाषा के माध्यम से विकसित हुये वैष्णव साहित्य का आधार एक होते हुये भी परवर्ती काल में इनमें १८ विषयों में मतभेद उभर आये और संस्कृत भाषा तथा वर्णाश्रम व्यवस्था का कट्टर अनुयायी वर्ग बड़कलै तथा तमिल भाषा का अनुयायी वर्ग टेंगले नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैष्णव धर्म की टेंगले धारा में ही उत्तर भारत के प्रसिद्ध सन्त रामानन्द का आविर्भाव हुआ था। इन्होंने अपने वैष्णवमताब्जभास्कर में उन १८ विषयों का वर्णन किया है, जहाँ कि उनका अन्य सम्प्रदाय से समय भेद है।

रामानुज के शिष्य कूरेश की परम्परा में जिस राम-भक्ति धारा का विकास हुआ, उसका मुख्य आधार पांचरात्र आगम की अगस्त्यसंहिता है। पांचरात्र आगम में तीन प्रकार की संहितायें उपलब्ध होती हैं। अधिकांश संहिताओं में चतुर्व्यूहवाद का प्रतिपादन मिलता है, किन्तु कृष्ण और राम की उपासना का वर्णन करने वाली संहि ाएँ भी कम नहीं हैं। रामानन्द के कुछ ग्रन्थों में तांत्रिक कर्मकाण्ड की बहुलता कुछ लोगों को अटपटी लगती है, किन्तु उनके साहित्य पर यह तत्कालीन पांचरात्र साहित्य का प्रभाव था। यह स्पष्ट है कि परवर्ती काल में आविर्भूत तन्त्र साहित्य में दर्शन और योगशास्त्र की अपेक्षा बाह्य क्रिया-काण्ड का अधिक समावेश हो गया। यही कारण है कि कालान्तर में वैदिक कर्मकाण्ड की ही भाँति तान्त्रिक कर्मकाण्ड भी जनता की दृष्टि में असामयिक हो गया।

उपासना के क्षेत्र में कर्म, योग और ज्ञान की अपेक्षा भक्ति के गरीयस्त्व की घोषणा तान्त्रिक वाङ्मय की विशिष्ट उपलब्धि थी। पूरे भारत के सन्त साहित्य में इसका चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है। यही वह सम्बल था, जिसके सहारे यह राष्ट्र परतन्त्रता काल के एक सहस्र वर्षों में अपनी संस्कृति और साहित्य को सुरक्षित रख सका। महात्मा गांधी को इस सन्त

धारा की चरम परिणति माना जा सकता है। हमारा विश्वास है कि भारतीय सस्कृति की इस धारा में वह अमृतरससिंचिनी शक्ति अभी मौजूद है, जिससे कि नवीन भारतीय राष्ट्र और उसके लिये एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा। सूफी सन्तों और ईसाई अथवा यहूदी सन्तों की भक्ति धारा ने इस ओर लम्बा रास्ता तय किया है। इन धाराओं को भारतीय संस्कृति के पावन प्रवाह में एकाकार कर लेने की मात्र आवश्यकता है।

———

'साहित्य संस्थान में आगमशास्त्र के विशिष्ट ग्रन्थ

विगत ग्रीष्मावकाश में मैं अपने वन्धु-बान्धवों से मिलने के प्रसंग में उदयपुर गया हुआ था। सारस्वत धाम और स्वातन्त्र्य वीरों की जन्मदात्री इस नगरी से मेरा पहले का परिचय है। आज से लगभग १० वर्ष पूर्व मैंने यहाँ के सरस्वती भण्डार के हस्तलिखित ग्रन्थों के संग्रह को देखा था। डा० मोतीलाल मेनारिया तव उसके अध्यक्ष थे। अव की बार इस संग्रह का मैंने पुनः मनोयोगपूर्वक अवलोकन किया। कैलाशपुरी में एकलिंग जी के महन्त जी के तथा उदयपुर में महाराणा साहव के व्यक्तिगत संग्रहों को देखने की इच्छा फलवती न हो सकी, किन्तु इस कमी की पूर्ति हिन्दी साहित्य सस्थान में विद्यमान संग्रह को देखने से हो गई। साहित्य संस्थान में हिन्दी ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत ग्रन्थ भी होंगे, इसकी कोई आशा नहीं थी, किन्तु अपने कनिष्ठ भ्राता श्री विद्यावल्लभ दवे के कहने से वहाँ जाने पर और श्री उमाशंकर शुक्ल से सम्पर्क स्थापित करके वहाँ के ग्रन्थों का, विशेषकर आगमशास्त्र के ग्रन्थों का, अवलोकन करने पर एक आश्चर्यमिश्रित प्रसन्नता हुई।

इसका एक कारण था। उदयपुर के एक ओर पोसुंडी और दूसरी ओर कैलाशपुरी है। पोसुंडी की नारायण वाटिका के प्राकार शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव का उल्लेख है, जो कि वैष्णवागमों (पांचरात्र, वैखानस, और भागवत) में प्रतिपादित चतुर्व्यूहवाद के निदर्शक हैं। यह तो पाठक जानते ही हैं कि कैलाशपुरी में भगवान् एकलिंग की स्थापना पाशुपताचार्य हारीत मुनि ने की थी। इस प्रकार उदयपुर पांचरात्र और पाशुपत मतों का मिलन-विन्दु है। ईशा की प्रारम्भिक शताब्दियों में भारत में पांचरात्र और पाशुपत मतों की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान[2] में

---

१. शोधपत्रिका, उदयपुर (व० २१, अ० ३, पृ० ७३-७५, जुलाई सितम्बर, १९७०) में प्रकाशित।

२. सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि च।। (शान्ति० ३४९.६४)

वेद, सांख्य और योग के साथ पांचरात्र और पाशुपत मत को समान स्थान दिया गया है। पांचरात्र और पाशुपत मत आगम अथवा तन्त्रशास्त्र की प्रमुख शाखायें हैं। पुराण प्रतिपादित वैष्णव और शैव धर्म की प्रतिष्ठा पहले इन्हीं मतों में हुई थी। डा० आर० जी० भाण्डारकर ने अपने ग्रन्थ 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजयस सिस्ट्म्स' में तान्त्रिक संस्कृति की प्रमुख शाखाओं पर प्रकाश डालने का स्तुत्य प्रयास किया था, किन्तु दुर्भाग्य से यह अध्ययन आगे न बढ़ सका और पांचरात्र तथा पाशुपत मत को भारतीय इतिहास में उसका उचित स्थान प्राप्त न हो सका। तन्त्रशास्त्र का सही मूल्यांकन न हो पाने के कारण अथवा उसकी रहस्यात्मक विधियों के अन्यथा उपयोग के कारण भारतीय वाङ्मय की इस शाखा का उत्कृष्ट साहित्य प्रायः लुप्त हो गया है। पाशुपत आगम का, कुछ ग्रन्थों को छोड़, पूरा साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। पांचरात्र तथा परवर्ती सिद्धान्त शैवों का साहित्य भी आज दक्षिण भारत में ही उपलब्ध है। साहित्य संस्थान के संग्रह को देखकर मुझे आश्चर्य मिश्रित प्रसन्नता इसलिये हुई कि यहाँ पर देवनागरी लिपि में पांचरात्र और सिद्धान्त शैवागम के कुछ विशिष्ट ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां देखने को मिलीं। जबकि इन ग्रन्थों के हस्तलेख अब तक दक्षिण भारत की लिपियों में ही उपलब्ध हुए हैं।

इन पाण्डुलिपियों का नामोल्लेख करने के पूर्व वैष्णव और शैवागमों के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक प्रतीत होता है। वैष्णवागम आज मुख्यतः तीन भागों में बंटा है—वैखानस, पांचरात्र, और भागवत। दक्षिण भारत के तिरुपति-बालाजी के मन्दिर में भगवान् वेंकटेश्वर की अर्चना वैखानस पद्धति से की जाती है और वैखानस आगम के अनेक ग्रन्थ तिरुपति से ही प्रकाशित भी हुये हैं। दक्षिण भारत के प्रसिद्ध तीर्थ स्थल श्रीरंगम् के मन्दिर में विद्यमान विग्रह की अर्चा पांचरात्र पद्धति से होती है। श्रीवैष्णव अथवा रामानुज सम्प्रदाय में पांचरात्र संहिताओं का वेद ही के समान ही समादर है। दक्षिण भारत का आलवार साहित्य (तमिल वेद) पांचरात्र साहित्य से अनुप्राणित है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डा० एफ० ओटो श्राडर ने अपने ग्रन्थ 'एन इंट्रोडक्शन टू पांचरात्र लिटरेचर' में इसके साहित्य और सिद्धान्तों का संक्षेप में बड़ा परिपूर्ण परिचय दिया है। हयशीर्ष पांचरात्र के आदि काण्ड के दूसरे पटल में पच्चीस पांचरात्र संहिताओं और दस भागवत संहिताओं का उल्लेख है। पांचरात्र संहिताओं के यही नाम अग्निपुराण के ३९वें अध्याय के प्रारम्भ में भी मिलते हैं। ये नाम और अग्निपुराण का वैष्णवागम सम्बन्धी पूरा प्रकरण

हयशीर्ष पांचरात्र की ही प्रतिच्छाया है। डा० श्राडर ने दस भागवत संहिताओं के नामों में नौ ही नामों का परिगणन किया है और इनका भी पांचरात्र संहिताओं में ही समावेश कर लिया है। प्रसिद्ध तान्त्रिकाचार्य भास्करराव के द्वारा उद्धृत[1] प्रमाण के आधार पर वैष्णवागमों के अन्तर्गत भागवत सम्प्रदाय की पृथक् सत्ता सिद्ध है और श्रीमद्भागवत इसी सम्प्रदाय का ग्रन्थ है, जिसकी कि रचना संभवतः तन्त्रभागवत के आधार पर की गई थी। मध्वाचार्य[2] ने अपने ग्रन्थों में तन्त्रभागवत को उद्धृत किया है। प्रायः १५-१६वीं शताब्दी के आस पास संकलित ग्रन्थ शक्तिसंगमतन्त्र में वैष्णवों[3] के दस विभाग दिये गये हैं :—(१) वैखानस, (२) राधावल्लभ, (३) गोकुलेश, (४) वृन्दावनी, (५) पांचरात्र, (६) वीरवैष्णव, (७) रामानन्दी, (८) हरिव्यासी, (९) निम्बार्क और (१०) भागवत।

साहित्यशास्त्र और तन्त्रशास्त्र के अप्रतिम विद्वान् अभिनवगुप्त ने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर शैवागमों के दार्शनिक दृष्टि से तीन भेद किये हैं :—(१) द्वैतागम, (२) द्वैताद्वैतागम और (३) अद्वैतागम। दस शैवागम द्वैतागम के नाम से प्रसिद्ध हैं और १८ रौद्रागम द्वैताद्वैतागम के नाम से। ये २८ आगम सिद्धान्त शास्त्र अथवा शैवागम के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक आगम से उपागमों का विकास हुआ। इन उपागमों की संख्या २०७ है। पाण्डिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के प्रारम्भ में दी गयी तालिका में २८ आगमों और २०७ उपागमों के नाम देखे जा सकते हैं। अद्वैतागम भैरवागम के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी संख्या ६४ है। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त : हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडी' और 'शैवदर्शन-विन्दु' से इन सब आगमों का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

६४ तन्त्रों की एक दूसरी नामावली नित्याषोडशिकार्णव तथा कुलचूडामणि तन्त्र में उपलब्ध होती है। ६४ तन्त्रों का उल्लेख सौन्दर्यलहरीकार ने भी किया है। सौन्दर्यलहरी के टीकाकारों और नित्याषोडशिकार्णव के टीकाकारों में इन तन्त्रों की नामावली को लेकर पर्याप्त मतभेद है।

इसके अतिरिक्त ६४ तन्त्रों की एक अन्य नामावली सर्वोल्लासतन्त्र में

---

१. नित्याषोडशिकार्णव सेतुवन्ध, पृ० ५ प्रथम संस्करण।

२. भागवततात्पर्यनिर्णय, पृ० २-३। हयशीर्ष पांचरात्र की भागवत संहिताओं की नामावली में भी तन्त्रभागवत उल्लिखित है।

३. काली खण्ड, ८।३८-४०, पृ० ९९।

तोडलतन्त्र के आधार पर दी गयी है। अश्वक्रान्ता,[1] रथक्रान्ता और विष्णु-क्रान्ता के भेद से भी तन्त्रों का विभाग किया गया है। इनमें से प्रत्येक विभाग में ६४ ६४ तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ये नामावलियां यद्यपि परवर्ती प्रतीत होती हैं, तथापि प्रसंगवश यहाँ उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वैष्णवागम की जयाख्यसंहिता गायकवाड़ ग्रन्थमाला में बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। सस्थान में इसकी देवनागरी लिपि की मातृका है। इसकी सहायता से मुद्रित ग्रन्थ में जो पाठ यत्र-तत्र त्रुटित रह गये हैं, उनकी पूर्ति की जा सकती है। सात्वतसहिता का देवनागरी संस्करण शास्त्रमुक्तावली ग्रन्थमाला में कांचीपुरी से प्रकाशित हुआ था। यह संस्करण पर्याप्त सामग्री के अभाव में ही कर दिया गया था। अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में जर्मन विद्वान् श्राडर ने इसके शुद्ध संस्करण की आवश्यकता का अनुभव किया था। इन पंक्तियों के लेखक ने अलशिंग भट्ट के भाष्य के साथ दक्षिण भारत में उपलब्ध अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर इस संहिता का शुद्ध संस्करण प्रस्तुत करने का कार्य आरंभ किया है। इस संहिता की संस्थान की पाण्डुलिपि का पूर्ण उपयोग करने की अनुमति देकर यहाँ के अधिकारियों ने लेखक के इस कार्य में प्रशंसनीय सहयोग किया है। इनके अतिरिक्त संस्थान में पारमेश्वरसंहिता, नारदीयसंहिता, विश्वामित्रसंहिता और वैखानससंहिता की पाण्डुलिपियां भी उपलब्ध हैं। संस्थान की सूची में पांचरात्रोत्पत्ति नाम की एक पाण्डुलिपि का उल्लेख है। वस्तुतः यह वामनसंहिता के मात्र ३३वें अध्याय का हस्तलेख है। इस प्रसंग में नृसिंहारण्य के विष्णुभक्तिचन्द्रोदय की मातृका का उल्लेख करना आवश्यक है। यह हस्तलेख विक्रम सं० १४०७ का लिखा हुआ है। इस ग्रन्थ को प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित ने अपने ग्रन्थ तन्त्राधिकारिनिर्णय में एकाधिक बार उद्धृत किया है। उदयपुर के सरस्वती भण्डार में भी इसकी मातृका उपलब्ध है। इसकी तथा राजस्थान के अन्य पुस्तकालयों में उपलब्ध हस्तलेखों की सहायता से इस ग्रन्थ का शुद्ध संस्करण प्रस्तुत किया जा सकता है।

शैवागमों की प्रायः प्रत्येक संहिता में ज्ञान (विद्या), क्रिया, चर्या और योग नाम के चार पाद होते हैं। संस्थान में मतंग पारमेश्वर आगम के

---

१. द्रष्टव्य—तन्त्राभिधान पर आर्थर एवलन (डा० उडरफ) की भूमिका, पृ० २-४।

विद्यापाद पर रामकण्ठ रचित वृत्ति की सम्पूर्ण मातृका उपलब्ध है। अजितागम की भी सम्पूर्ण मातृका यहाँ विद्यमान है। इसका मात्र क्रिया पाद ही अभी पांडिचेरी से प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ के द्वितीय भाग के प्रकाशन में संस्थान की मातृका से मदद ली जा सकती है। सूक्ष्मागम भी अभी अप्रकाशित है। संस्थान में सूक्ष्मतन्त्र के नाम से इसकी मातृका विद्यमान है। कामिकागम और कारणागम यद्यपि ग्रन्थ लिपि में छप गए हैं, किन्तु आज वे उपलब्ध नहीं हैं। इन दोनों ग्रन्थों की भी देवनागर मातृका संस्थान में उपलब्ध है। मतंग पारमेश्वर को छोड़ यहाँ उल्लिखित अन्य सभी आगमों का दस शैवागमों में परिगणन किया जाता है। दस शैवागमों के नाम ये हैं –(१) कामिक, (२) योगज, (३) चिन्त्य, (४) कारण, (५) अजित, (६) दीप्त, (७) सूक्ष्म, (८) सहस्र, (९) अंशुमत और (१०) सुप्रभेद।

इन आगमों के अतिरिक्त संस्थान में त्रिलोचन शिवाचार्य की सिद्धांत-सारावली की भी एक अपूर्ण मातृका उपलब्ध है। त्रिलोचन शिवाचार्य सिद्धान्त शैवों के १८ पद्धतिकारों में अन्यतम हैं। शैवभूषण में अष्टादश पद्धतिकारों के नाम इस प्रकार दिये हैं —

> उग्रोत्तरज्योतिरथोपसद्यः श्रीरामकण्ठोऽपि च वैद्यकण्ठः।
> नारायणश्चापि विभूतिकण्ठ श्रीनीलकण्ठोऽपि च सोमशम्भुः॥
> ईशानशम्भुर्हृदयादिना स्याद् विरञ्चिवैराग्यकयुग्मवाच्यौ।
> ज्ञानस्त्रिणेत्रो वरुणेश्वरौ तावित्यादयस्ते स्युरघोरशम्भुः॥

द्वितीय श्लोक में उल्लिखित त्रिणेत्र त्रिलोचन का ही नाम है। संस्कृत ग्रन्थों में प्रायः देखा जाता है कि छन्द के अनुरोध से लेखकों के पर्यायवाची शब्दों का भी प्रयोग कर दिया जाता है। इन पद्धतिकारों में उग्रज्योति, सद्योज्योति, रामकण्ठ और नारायणकण्ठ के नाम कश्मीर के शैवागम ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। उग्रज्योति और सद्योज्योति शिवदृष्टिकार सोमानन्द के पहले हो चुके हैं। सोमानन्द का समय ई० ९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। सद्योज्योति को प्रायः यहाँ पर खेटपाल या खेटकनन्दन के नाम से सम्बोधित किया गया है। सोमशम्भु, ईशानशिव और अघोरशिव की पद्धतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। वरुणपद्धति के अनेक श्लोक ईशानशिव-गुरुदेवपद्धति (त्रिवेन्द्रम् संस्करण) में उद्धृत हैं। उदयपुर के सरस्वती भण्डार में वरुणपद्धति की चार मातृकायें हैं। ईशानशिवपद्धति में उद्धृत वरुणपद्धति की ही ये मातृकायें हैं या नहीं, यह परीक्षणीय है।

वैष्णव और शैवागमों के अतिरिक्त शाक्त तन्त्र का एक विशिष्ट और प्राचीन ग्रन्थ सरस्वती भण्डार में विद्यमान है, जो कि अब राजस्थान प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान की उदयपुर शाखा के अधीन है। इसका नाम दिया गया है—त्रिपुरसुन्दरीपद्धति (सटीक)। नित्याषोडशिकार्णव की अर्थरत्नावली नाम की टीका के रचयिता विद्यानन्द के दूसरे ग्रन्थ ज्ञानदीपविमर्शिनी की यह मातृका है। मातृका केवल मूल ग्रन्थ की है। हमारी दृष्टि में इस ग्रन्थ की यह चौथी मातृका आयी है। सर्वप्रथम इसकी मातृका हमको बड़ौदा के गायकवाड़ पुस्तकालय में उपलब्ध हुई थी। दूसरी मातृका त्रिवेन्द्रम् में केरल विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में देखने को मिली। इन दोनों मातृकाओं के पाठ में पर्याप्त अन्तर है। इसकी तीसरी मातृका नेपाल के दरबार पुस्तकालय की सूची में उल्लिखित है। नेपाल की मातृका और सरस्वती भण्डार की इस प्रति के आधार पर इस ग्रन्थ का स्वरूप स्थिर किया जा सकता है। शाक्त मत के त्रिपुरा सम्प्रदाय की प्राचीनता, दार्शनिकता और उसकी योगप्रवणता को जानने के लिये यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है। इस पद्धति ग्रन्थ में उपासना के विभिन्न अंगों की यौगिक और बाह्य उपचार विधियों का बड़ा ही विचारपूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार हमने यहाँ पर उदयपुर में साहित्य संस्थान आदि में विद्यमान महत्वपूर्ण आगमिक तथा तान्त्रिक ग्रन्थों के हस्तलेखों का परिचय दिया है। इन ग्रन्थों की उपलब्धि से आशा बंधती है कि उदयपुर तथा उसके आस-पास के क्षेत्र में पांचरात्र और शैवागम के और भी महत्वपूर्ण ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकती है। प्राचीन पाशुपत सम्प्रदाय तथा लकुलीश पाशुपत मत के ग्रन्थों की अनुपलब्धि से हमें कुछ निराशा भी हुई है। सम्भव है कैलाशपुरी के एकलिंग जी के महन्त जी के व्यक्तिगत संग्रह में, जो कि अब महाराणा साहब के व्यक्तिगत पुस्तकालय में समाविष्ट कर लिया गया है, कुछ विशिष्ट महत्वपूर्ण पाशुपत ग्रन्थ उपलब्ध हों। इन ग्रन्थों को खोज निकालने के लिये स्थानीय विद्वानों को दृढ़ निश्चय के साथ आगे बढ़ना चाहिये।

———

[1]ब्रह्मसूत्र का पांचरात्राधिकरण

ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद तर्कपाद के नाम से परिचित है। इसका अंतिम अधिकरण प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय है। आज कल ब्रह्मसूत्र के दस भाष्य उपलब्ध हैं[2]। इनमें सबसे प्राचीन शांकर भाष्य है। शंकर से पहले भी इस पर अनेक भाष्य और वृत्ति ग्रन्थों की रचना हुई थी, किन्तु अब वे काल-कवलित हो चुके हैं। आज इतस्ततः ग्रन्थों में उनके नाम का उल्लेख अथवा उद्धरण मात्र प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अधिकरण के विषय में उन प्राचीन आचार्यों का मत क्या था, इसको जानने का आज हमारे पास कोई साधन नहीं है। शंकर, रामानुज आदि आचार्यों ने इस अधिकरण का नाम उत्पत्त्यसंभवाधिकरण दिया है[3]। अधिकांश भाष्यकारों के मत से इस अधिकरण में पांचरात्र मत की समालोचना की गयी है। श्रीकण्ठ ने तो पांचरात्राधिकरण के नाम से ही इसकी व्याख्या की है। प्रस्तुत लेख के विषय का बोध सरलता से हो सके, इसलिये हम भी यहाँ पर पांचरात्राधिकरण के नाम से इसको सम्बोधित कर रहे हैं।

तर्कपाद में सांख्य, योग, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, पाशुपत और पांचरात्र मत का खण्डन कर औपनिषद' मत की स्थापना की गयी है। रामानुजाचार्य का मत है कि अन्तिम अधिकरण में पांचरात्र मत का खण्डन न होकर उसकी

---

१. श्रीकृष्ण संदेश, मथुरा (व० ५, अ० ४, पृ० ५१-५४, नवम्बर, सन् १९६९) में प्रकाशित।

२. १—शंकर, २—भास्कर, ३—रामानुज, ४—श्रीकण्ठ, ५—मध्व, ६—निम्बार्क, ७—श्रीकर, ८—विज्ञानभिक्षु, ९—वल्लभ और १०—बलदेवभाष्य।

३. विज्ञानभिक्षु 'उत्पत्त्यसंभवात्' इत्यादि चार सूत्रों को पूर्व अधिकरण का ही अंग मानते हैं। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु के मत से उत्पत्त्यसंभवाधिकरण अथवा पांचरात्राधिकरण की कोई सत्ता नहीं है।

स्थापना हुई है। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण ने इसमें पादासंगति दोष देखकर इस अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय में ही परिवर्तन कर दिया है। उनके मत से इस अधिकरण में पांचरात्र मत की समालोचना न होकर शावत मत की आलोचना की गई है। बात यह है कि वैष्णव आचार्य पांचरात्र मत को आदर की दृष्टि से देखते हैं। शांकर मत से वैष्णव आचार्यों के मतभेद का मुख्य आधार ये पांचरात्र संहितायें हैं। इस मत में भक्ति और प्रपत्ति की प्रतिष्ठा होने के कारण यहाँ पर जीव और जगत् भी परमार्थतः सत्य है तथा जीव को अणु माना गया है। इसीलिये प्रायः सभी वैष्णव आचार्यों को पांचरात्र का प्रामाण्य निर्बाध रूप से अभिप्रेत है। वैष्णव आचार्यों में केवल वल्लभाचार्य को इस अधिकरण में पांचरात्र का खण्डन मानते हैं। इसका कारण यह है कि ये विशेषतया भागवत पुराण से प्रभावित हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक उत्तर भारत में पांचरात्र का प्रभाव क्षीण-प्राय हो गया था। श्रीकण्ठ भाष्य और उसकी अप्पय दीक्षित की टीका शिवार्कमणिदीपिका, श्रीकर भाष्य और वल्लभ भाष्य की पुरुषोत्तम कृत प्रकाश व्याख्या आदि ग्रन्थों को देखने से यह मालूम होता है कि पांचरात्र आदि मतों के विरुद्ध पुराणों तथा उपपुराणों में भी पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होने लगी थी।

नारायणीयोपाख्यान की रचना के समय ही नहीं, महिम्नस्तव की रचना काल में भी, त्रयी, सांख्य, योग और पाशुपत मत के साथ वैष्णव मत अर्थात् पांचरात्र की भी स्वतन्त्र मत के रूप में प्रतिष्ठा विद्यमान थी। भगवद्गीता में जहाँ इन मतों के समन्वय का प्रयत्न हुआ, वहाँ तर्कपाद में इनका खण्डन कर औपनिषद मत की स्वतन्त्र स्थापना की गई। इसका दूरगामी प्रभाव हुआ और परवर्ती आचार्यों के द्वारा तर्कपाद में समालोचित मत अवैदिक करार दिये गये। यामुनाचार्य आदि वैष्णव आचार्यों ने आगमप्रामाण्य आदि ग्रन्थों के माध्यम से पांचरात्र को वेदाविरोधी सिद्ध करने का प्रयत्न किया, किन्तु यह प्रयत्न अन्ततः सफल न हो सका और उत्तर भारत से पांचरात्र की परम्परा प्रायः लुप्त सी हो गयी। स्पन्दप्रदीपिकाकार उत्पल वैणव के समय में कश्मीर में पांचरात्र और उपनिषद् उपलब्ध थे। आज ये नाम-शेष हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार अपरार्क ने तथा प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित ने तन्त्राधिकारिनिर्णय में स्मृति ग्रन्थों के समान वेदविरुद्ध अंश में पांचरात्र का प्रामाण्य अधिकारी विशेष के लिये स्वीकार किया है। वैष्णव ही

नहीं, शैव और शाक्त आचार्य भास्करराय प्रभृति ने भी आगम ग्रन्थों का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव किया है और इनको वेदानुवर्ती माना है। ब्रह्मसूत्र का ही यह प्रभाव है कि भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये सभी मतों को वेद की शरण में जाना पड़ा। ऐसा न कर सकने वाले मत वहिष्कृत अथवा निष्प्रभाव कर दिये गये।

चारों वेदों की उपासना से भी परम श्रेय की उपलब्धि न देखकर शाण्डिल्य ने पांचरात्र शास्त्र को प्राप्त किया था। इस उद्धरण से पांचरात्र की अपेक्षा वेदों के प्रति शिथिल दृष्टि का बोध होता है। शंकराचार्य (२-२-४५) की इस व्याख्या से रामानुजाचार्य (२-२-४२) सहमत नहीं है। उनकी दृष्टि से यह वचन प्रस्तुत पांचरात्र शास्त्र की प्रशंसा के लिये अर्थवाद मात्र है। शंकराचार्य ने पांचरात्र मत के विरुद्ध दूसरा तर्क यह दिया है कि यहाँ पर वासुदेव से संकर्षण की, संकर्षण से प्रद्युम्न की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति मानी गयी है। वासुदेव स्वयं परमात्मा है, संकर्षण जीव, प्रद्युम्न मन और अनिरुद्ध अहंकार स्थानीय माने गये हैं। जीव की उत्पत्ति वैदिक सिद्धान्तों के विरुद्ध है और कर्तृभूत (जीव) संकर्षण से करणभूत (मन) प्रद्युम्न की उत्पत्ति लोकविरुद्ध भी है, क्योंकि कहीं भी कर्ता से करण की उत्पत्ति नहीं देखी जाती।

रामानुजाचार्य ने इस अधिकरण के प्रथम दो सूत्रों को पूर्वपक्ष सूत्र माना है और अन्तिम दो सूत्रों में उनका समाधान किया है। शंकराचार्य प्रदर्शित दोनों आक्षेपों को वे पूर्वपक्ष में रखकर सिद्धान्त-सूत्रों के द्वारा उनका समाधान करते हैं। पौष्कर, सात्वत और परमसंहिता के प्रमाणों पर वे जीवोत्पत्तिवाद और कर्तृकरणवाद का खण्डन करते हैं। उनका अभिप्राय है कि पांचरात्र संहिताओं में भी जीव को नित्य ही माना गया है। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रमश जीव, मन और अहंकार ताव के अधिष्ठाता हैं, इसलिये

---

१. 'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवान्'। वामन संहिता में शाण्डिल्य, भारद्वाज, कौशिक, मोज्जायन और औपगायन ये पांच ऋषि पांचरात्र के प्रवक्ता माने गये हैं। (साहित्य संस्थान, विद्यापीठ उदयपुर का 'पांचरात्रोत्पत्ति' नामक हस्तलेख, ग्रन्थ संख्या ३६०)। ईश्वरसंहिता १ परिच्छेद में बताया गया है कि शाण्डिल्य ने सुमन्तु, जैमिनि, भृगु, औपगायन और मौञ्जायन को इस शास्त्र का उपदेश दिया था।

यहां पर इनका जीव आदि शब्दों से उसी प्रकार निर्देश कर दिया गया है, जैसे कि आकाश, प्राण आदि शब्दों से ब्रह्म का निर्देश किया जाता है।

शंकराचार्य ने जिस पांचरात्र मत को उद्धृत कर उसका खंडन किया है, वह यद्यपि आज उपलब्ध पांचरात्र संहिताओं में देखने को नहीं मिलता, किन्तु नारायणीयोपाख्यान में (३३९ अध्याय ३६-४१ तथा ७२-७४ श्लोक) वह ज्यों का त्यों उपलब्ध है। किन्तु इस प्रकरण के पूर्वापरावलोकन से इसकी रामानुजाचार्य की उक्त अधिकरण में की गई व्याख्या ही युक्ति-संगत प्रतीत होती है। ३३९वें अध्याय के ३५वें श्लोक को और ३४४वें अध्याय के १४-१८ श्लोकों को देखने से यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि ग्रन्थकार को यहाँ उत्पत्ति और विनाश के स्थान पर प्रादुर्भाव और तिरोभाव अभिप्रेत है। चतुर्मूर्ति अथवा चतुर्व्यूह का नारायणीयोपाख्यान में विशेष विवरण नहीं मिलता, किन्तु पांचरात्र संहिताओं में, विशेषकर अहिर्बुध्न्यसंहिता में यह विस्तार से वर्णित है।

ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज ये छः गुण हैं। पर वासुदेव में ये सभी स्तिमितावस्था में विद्यमान रहते हैं। यह वासुदेव की नित्योदितावस्था है। शान्तोदितावस्था में ये गुण क्रियाशील हो उठते हैं और तब, पर वासुदेव व्यूहावस्था की ओर अथवा शुद्ध-सृष्टि की ओर अग्रसर होता है। व्यूह वासुदेव में ये सभी गुण उन्मेषावस्था में रहते हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज इस प्रकार केवल दो-दो गुणों का उन्मेष होता है। पर वासुदेव की ही ये सब अवस्थायें हैं। कार्य विशेष का संपादन करने के लिये पर वासुदेव ही चतुर्व्यूह रूप में अभिव्यक्त होता है। अन्य संहिताओं में पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार के भेद से ईश्वर के पांच स्वरूपों का वर्णन किया गया है। रामानुजाचार्य ने भी २-२-४१ के भाष्य में वासुदेव को ही परब्रह्म माना है और वहाँ पर उसके सूक्ष्म, व्यूह और विभव रूपों की व्याख्या की है। इस जगह पर 'वासुदेव' के लिए 'सूक्ष्म' शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस अधिकरण की व्याख्या में शंकर की अपेक्षा भास्कर का अपना कोई नवीन दृष्टिकोण परिलक्षित नहीं होता। दोनों इस अधिकरण के आरम्भ में एक ही बात कहते हैं कि पांचरात्र में जो कुछ वेदाविरोधी है, उसका यहाँ खण्डन नहीं किया जा रहा है, किन्तु वेदविरोधी अंश ही अधिकरण के खण्डन का विषय है। रामानुज इस व्याख्या से सहमत नहीं है। उनका कहना है

कि पांचरात्र में वेदविरोधी कुछ है ही नहीं। उसको वे इस अधिकरण के अंतिम सूत्र में विस्तार से समझाते हैं। उनके इस प्रतिपादन का मुख्य आधार नारायणीयोपाख्यान है। उनका कहना है कि सूत्रकार ने ही वेद के उपबृंहण के लिये शतसहस्र (एक लाख) श्लोक की भारत संहिता की रचना की। उन्होंने मोक्षधर्म में ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन करते हुए विस्तार से पांचरात्र शास्त्र की प्रक्रिया का वर्णन किया है और कहा है कि दही को मथकर जैसे उसमें से सार वस्तु मक्खन निकाला जाता है, उसी प्रकार पूरे महाभारत को मथकर उससे पांचरात्र के प्रतिपादक सारभूत नारायणीयोपाख्यान की रचना की गई है। महाभारत के भीष्म पर्व में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन मिलता है। ऐसी परिस्थिति में सूत्रकार बादरायण कैसे इस अधिकरण में पांचरात्र की आलोचना कर सकते हैं। नारायणीयोपाख्यान में स्पष्ट ही कहा है कि पूरे पांचरात्र शास्त्र के वक्ता स्वयं नारायण है। अन्त में—

सांख्य-योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः।।

इस श्लोक को उद्धृत करते हुए रामानुजाचार्य कहते हैं कि तर्कपाद में न केवल पांचरात्र का, सांख्य, योग और पाशुपत मत का भी सर्वात्मना खण्डन नहीं किया गया है। केवल वेदविरोधी अंश की ही समालोचना हुई है। इतर मतों के लिये जो बात रामानुज कहते हैं, वही बात शंकर और भास्कर पांचरात्र के लिये भी कहते हैं। किन्तु पांचरात्र शास्त्र में श्रद्धातिशय के कारण रामानुज उसको मानने को तैयार नहीं है। सूत्रकार और महाभारत के रचनाकार का एकत्व उनकी दृष्टि में अपने मत के समर्थन के लिये एक प्रबल प्रमाण है। एक ग्रन्थकार अपने दो ग्रन्थों में परस्पर-विरोधी भाव व्यक्त नहीं कर सकता। हम रामानुजाचार्य[1] की इस श्रद्धा भरी युक्ति को आज की ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्बन कर अन्यथा नहीं करना चाहते।

---

१. श्रीकण्ठ शिवाचार्य और रामानुजाचार्य में कौन पूर्ववर्ती है, इस विवाद में पड़ने का यहाँ अवसर नहीं है। किन्तु इस अधिकरण में पांचरात्र के अप्रामाण्य को सिद्ध करते हुए श्रीकण्ठ ने जो कुछ लिखा है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वे रामानुज भाष्य के तर्कों का उत्तर दे रहे हों।

इतना अवश्य कहना चाहते हैं कि भारतीय प्रबुद्ध समाज में उक्त पांच मतों की पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी। तर्कपाद और उनके व्याख्याताओं के खण्डन के वाद भी उन पर किसी की अनास्था नहीं हुई। हाँ, कालप्रवाह में पड़कर आज पांचरात्र और पाशुपत मत आंखों से ओझल से होते जा रहे हैं। तांत्रिक वाङ्मय की उपेक्षा इसमें कारण हो सकती है। इतना होने पर भी इन मतों की मूल मान्यतायें प्रकारान्तर से अन्य रूपों मे भारतीय जन-जीवन में घुल-मिल गयी हैं, इस वात को कौन अस्वीकार कर सकता है।

———

'महाभारत का नारायणीयोपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्वर्ती मोक्षधर्मपर्व के अन्त में ३३४ अध्याय से ३५१ अध्याय तक (गीता प्रेस संस्करण) नारायणीयोपाख्यान उपवर्णित है । इस उपाख्यान ने आज से ५५ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध भारतीय मनीषी डा० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर का ध्यान आकृष्ट किया था । अपने ग्रन्थ 'वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स' में इन्होंने इस उपाख्यान का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था । इस ग्रन्थ का अब (सन् १९६७) में हिन्दी अनुवाद भी 'वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिक मत' शीर्षक से वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है । प्रस्तुत निबन्ध में हम पांचरात्र संहिताओं के परिप्रेक्ष्य में इसी उपाख्यान का सिंहावलोकन करना चाहते हैं ।

यहाँ पर ३४९वें अध्याय में सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद और पाशुपत मतों का तथा उनके प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख मिलता है । उपाख्यान के आरम्भ में बताया गया है कि सर्वप्रथम इस धर्म का उपदेश नारायण ने नारद को किया था । नर, नारायण, कृष्ण और हरि को यहाँ पर धर्म की चार मूर्तियां माना गया है । यहाँ यह अवधेय है कि इस उपाख्यान में एक-दो स्थल को छोड़ कर सर्वत्र व्यूह शब्द के स्थान पर मूर्ति शब्द का प्रयोग किया गया है । नारद को यह धर्म सर्वप्रथम उपदिष्ट हुआ था, इसलिये यह सम्प्रदाय नारद पंचरात्र के नाम से भी प्रसिद्ध हो गया है । यद्यपि इस नाम की एक संहिता अलग से भी उपलब्ध होती है, किन्तु परवर्ती काल में प्राय सभी संहिताओं के प्रारम्भ में "इति श्री नारदपंचरात्रे सात्वत-संहितायाम्' इस प्रकार पुष्पिका वाक्यों में इसका विशेषण के रूप में प्रयोग होने लगा था ।

---

१. श्रीकृष्ण संदेश, मथुरा (व० ५, अ० १, पृ० ४४-४६, अगस्त, सन् १९६९) में प्रकाशित ।

३४८ वें अध्याय में सांख्य, योग, वेद और पंचरात्र को परस्पर उपकारक माना है। इनका सुन्दर समन्वय भगवद्गीता में हुआ है। सांख्य, योग और उपनिषदों का तो गीता में स्पष्ट ही उपदेश मिलता है। इनके अतिरिक्त वहाँ पर शरणागति और प्रपत्ति आदि के सिद्धान्त पांचरात्र से ही लिये गये हैं। नारायणीयोपाख्यान में भगवद्गीता का हरिगीता के नाम से एकाधिक बार उल्लेख हुआ है और इस उपाख्यान पर स्पष्ट ही स्थल-स्थल पर गीता का प्रभाव परिलक्षित होता है, तथापि यह उपाख्यान प्रधानत पांचरात्र सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक है।

पांचरात्र का मुख्य सिद्धान्त चतुर्व्यूहवाद सर्वप्रथम यहाँ देखने को मिलता है। यहाँ पर एकव्यूह, द्विर्व्यूह, त्रिर्व्यूह का भी उल्लेख है, जो कि संभवतः चतुर्व्यूह वाद के विकासक्रम को बतलाता है। ३३९वें अध्याय में इसको महोपनिषद् कहा गया है और चतुर्वेदतुल्य इस शास्त्र की पंचरात्र संज्ञा दी गयी है। दूसरी जगह इसको सात्वत या ऐश्वर धर्म भी कहा गया है। यह धर्म अहिंसक था, किन्तु बौद्ध और जैन धर्म के समान वेदविरोधी नहीं था। इस धर्म के उपासक ऐकान्तिक कहे गये हैं, क्योंकि ये एकान्तभाव से नारायण कीउपासना करते हैं। गीता के समान यहाँ पर भी चार प्रकार के भक्त जनों का उल्लेख है और उनमें एकान्ती को श्रेष्ठ माना गया है। इस एकान्ती भक्त को भगवान् का प्रियतर कहा गया है। यहाँ पर इनको सात्वत या भागवत के नाम से भी अभिहित किया गया है। एक जगह इनको पंचकालज्ञ कहा गया है, क्योंकि ये पांच यज्ञों से पांच कालों में हरि की आराधना करते हैं। पंचयज्ञ और पचकाल का यहाँ विशेष विवरण नहीं मिलता, किन्तु पांचरात्र संहिताओं में इन पंचकालों और अभिगमन आदि पांच यज्ञों का विशद वर्णन मिलता है। प्रसंगवश यहाँ पर दैशिक शब्द का प्रयोग भी हुआ है। पांचरात्र संहिताओं में ही नहीं, प्रायः सभी आगम ग्रन्थों में इस शब्द का साधक की अवस्थाविशेष के अर्थ में व्यापक प्रयोग हुआ है। पांचरात्र संहिताओं और विभिन्न वैष्णव संप्रदायों में प्रसिद्ध 'जितन्ते' स्तोत्र का प्रथम श्लोक भी यहाँ देखने को मिलता है। संभवतः नारायणीयोपाख्यान की रचना से पूर्व ही इस स्तोत्र की रचना हो चुकी थी। इस प्रकार नारायणीयोपाख्यान में संक्षेप में उसी धर्म का स्वरूप वर्णित है, जो कि पांचरात्र संहिताओं में पल्लवित रूप में हमको देखने को मिलता है। पांचरात्र संहिताओं में दैव और पित्र्य कर्मकाण्ड का अत्यन्त विस्तार है। नारायणीयोपाख्यान में स्वयं नारायण ने कहा है कि हमारी परमा प्रकृति ने, जो कि श्वेत द्वीप में अवस्थित है, लोक कल्याण के लिये यह

मर्यादा बांध दी है कि देव और पित्र्य कर्म अवश्य ही करने चाहिये। इसीलिये इसको यहाँ स्थान-स्थान पर प्रवृत्ति धर्म के नाम से संबोधित किया गया है, जब कि वैदिक धर्म को निवृत्ति मार्ग बताया है।

प्राय: प्रत्येक पांचरात्र संहिता में श्वेतद्वीप का उल्लेख है। प्राय: प्रत्येक संहिता का उपदेष्टा श्वेतद्वीप में जाकर पांचरात्र धर्म का रहस्य प्राप्त करता है। नारायणीयोपाख्यान में भी नारद श्वेतद्वीप में जाकर भगवान् से उपदेश ग्रहण करते हैं। यहाँ पर श्वेतद्वीप का और वहाँ के निवासियों का वर्णन मिलता है। क्षीरसागर के उत्तर में श्वेतद्वीप की स्थिति बतलायी गयी है। मेरु पर्वत के उत्तर-पश्चिम में मेरू से ३२ सहस्त्र योजन ऊपर यह स्थित है। इस द्वीप में श्वेत वर्ण के अथवा शुद्ध सत्वप्रधान पुरुष निवास करते हैं। ये इन्द्रियों से रहित हैं, भोजन नहीं करते, हिलते-डुलते नहीं, इनके शरीर से सुगन्धि निकलती रहती है. ये निष्पाप हैं, पापी पुरुष इनको देख नहीं सकते, इनके शरीर की हड्डियाँ वज्र के समान मजबूत हैं, सब समान ऊँचाई के हैं, इनके शिर छाते के समान हैं, इनके साठ दांत और आठ दाढ़ें हैं, वे एकान्त भाव से वासुदेव की उपासना में निरत रहते हैं। ३४३वें अध्याय में बदरिकाश्रम में तप करते हुये नर और नारायण को भी बहुत कुछ इसी रूप में चित्रित किया गया है। पांचरात्र संहिताओं में कहा गया है कि मुक्त जीव ही श्वेतद्वीप को प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ पर (३३९।२०) भी यही बात कही गई है और दूसरी जगह बताया गया है कि इनका दर्शन भगवान् के दर्शन के समान है और एक दिन ये भगवान् में प्रवेश कर जायेंगे।

३३५-३३७ अध्यायों में परम भागवत राजा वसु उपरिचर की कथा वर्णित है। यह राजा नारायण का भक्त था। काम्य और नैमित्तिक सब अनुष्ठान वह सात्वत विधि से करता था। पांचरात्र के विद्वानों को भोजन करा चुकने के बाद वह स्वयं भोजन करता था। उसने अश्वमेध यज्ञ किया। उसमें पशु-हिंसा नहीं की गई। वन्य औषधियों का देवताओं को भाग अर्पित किया गया। इसमें भगवान् नारायण ने स्वयं आकर अपना भाग ग्रहण किया था। इस याग की शतपथ ब्राह्मण के पांचरात्र सत्र से बहुत कुछ समानता है।

३३७वें अध्याय में राजा वसु का एक दूसरे ही रूप में वर्णन मिलता है। देवों और ऋषियों में विवाद उठ खड़ा होता है कि यज्ञ में पशु से यजन करना चाहिये अथवा धान्य-औषधियों से। देवों का प्रथम पक्ष था और ऋषियों का द्वितीय। वे अपने विवाद का निर्णय कराने राजा वसु उपरिचर के पास जाते

हैं। स्वयं अहिंसक याग का अनुष्ठान करने वाला वह राजा यहाँ पर देवताओं के पक्ष में निर्णय करता है और ऋषियों का कोपभाजन बनता है। इस निर्णय के बाद राजा की आकाश गमन की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। ३३५वें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि राजा वसु की मृत्यु के बाद इस धर्म का लोप हो जायगा। इस कथा में धर्मलोप का रहस्य निहित है।

नारायणीयोपाख्यान के विभिन्न अध्यायों में पांचरात्र शास्त्र के उद्‌गम की अनेक परम्पराएँ दी हुई हैं। ३४८वें अध्याय के अन्त में वही परम्परा दी गयी है, जो कि गीता के चौथे अध्याय के आरम्भ में है। वास्तव में गीता और नारायणीयोपाख्यान एक ही भागवत परम्परा के शास्त्र हैं। इन्हीं में प्रतिपादित सिद्धान्तों का बाद में पांचरात्र संहिताओं में विकास हुआ। समयानुसार इनमें यत्र-तत्र परिवर्तन भी हुआ है। तर्कपाद के अन्तिम अधिकरण में शंकराचार्य ने पांचरात्र सिद्धान्त को उद्‌धृत कर उसका खण्डन किया है। उपलब्ध पांचरात्र संहिताओं में ये सिद्धान्त दृष्टिगत नहीं होते। इसीलिये रामानुजाचार्य ने शंकर-प्रतिपादित पूर्वपक्ष को सिद्धान्त रूप से स्वीकार नहीं किया है। किन्तु ये सिद्धान्त नारायणीयोपाख्यान में प्रतिपादित है।

———

श्रद्धेय श्री गोपीनाथ कविराज का अखण्ड महायोग

महायोग का अर्थ है—अनन्त प्रकार से असंश्लिष्ट और विक्षिप्त भावों की एकसूत्र में संयोजना एवं उनकी तादात्म्यरूपेण प्रतिष्ठा। शिव के साथ शक्ति का योग, आत्मा के साथ परमात्मा का योग, एक आत्मा के साथ दूसरी आत्मा का योग, महाशक्ति के साथ आत्मा का योग, लोक और लोकोत्तर का परस्पर योग, लोगों के साथ लोकातीत का योग आदि सभी महायोग के अन्तर्गत हैं।

काल तात्त्विक दृष्टि से महाकाल और खण्डकाल में विभक्त है। महाकाल अखण्ड और निरन्तर सृष्टिशील है, तो खण्डकाल अतीत, वर्तमान और अनागत रूप से त्रिधा विभक्त है। अनादिकाल से यह काल का स्रोत चला आ रहा है। आलंकारिक भाषा में कहा जा सकता है कि विशाल काल-सरिता निरन्तर अनागत से प्रवाहित होकर वर्तमान का स्पर्श करती हुई अतीत के गह्वर में लीन हो जाती है। किन्तु ऐसी भी स्थिति आती है. जहाँ त्रिकाल नहीं। वहाँ एकमात्र नित्य वर्तमान अखण्ड काल विराजमान रहता है। वहाँ सभी वस्तुएं नित्य प्रकाशमान रहती हैं। किसी का भी परिणाम नहीं होता। इस अखण्ड महाकाल में उपर्युक्त महायोग की स्थिति ही अखण्ड महायोग के नाम से अभिहित है।

वर्तमान युग में बंगाल के प्रभु जगद्बन्धु, योगी अरविन्द, मेहर बाबा और पाण्डिचेरी की मां किसी न किसी अंश में इस अखण्ड महायोग के उपासक रहे हैं। श्री अरविन्द का अतिमानस अवतरण (डिवाइन डीसेण्ट) इसी महायोग का एक अंश है। प्रभु जगद्बन्धु के 'चन्द्रपात' आदि ग्रन्थों

में इसका आंशिक विवरण मिलता है। वस्तुतः अखण्ड महायोग की पूर्णता अमरत्वप्राप्ति, निराकार प्रेम और अन्ततः साकार प्रेम-साधना में है।

इस योग में अन्ततोगत्वा जगत् का वैचित्र्य रहने पर भी भेद नहीं रहता। एक की प्राप्ति से सबकी प्राप्ति का नित्य सम्बन्ध लगा रहता है। जगत् की वर्तमान स्थिति में यह नहीं है। एक की मुक्ति से सभी की मुक्ति, एक की प्राप्ति से सभी की प्राप्ति चाहे पूर्ण रूप से हो चाहे आंशिक रूप से, तभी हो सकती है, जब समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से समग्र जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित हो।

अखण्ड महायोग की साधना में तात्विक दृष्टि से दो वस्तुओं की पूर्ण अपेक्षा है—एक तो मनुष्य का श्रेष्ठ प्रयत्न और दूसरा परमात्मा का परम अनुग्रह। मनुष्य के लिए चाहिए—पुरुषकार और एकीकरण। पुरुषकार द्वारा तत्त्वों का लय करना पड़ता है। यह सारा जगत् पृथ्वी से लेकर महामाया पर्यन्त विस्तृत है। प्रथम तत्त्व जितना व्यापक है, दूसरा तत्त्व उससे अधिक व्यापक है। इसी प्रकार अन्तिम तत्त्व सर्वाधिक व्यापक है। व्याप्य तत्त्व से व्यापक तत्त्व में उत्थान का एकमात्र उपाय है—कर्मगत कौशल। दूसरा तत्त्व प्राप्त होते ही उसके मण्डल की अधिगति (प्राप्ति) होती है। अन्तिम तत्व तक जाने पर समग्र विश्व उसके अधिकार में आ जाता है। इस प्रकार मनुष्य के श्रेष्ठ प्रयत्न पुरुषकार द्वारा साधक एकीकरण की प्रक्रिया पूरी करता है।

योग साधना की दूसरी धारा है—परमेश्वर की महाकरुणा के प्राप्त होने पर अपनी आश्रित सत्ता को अनुगृहीत करना। परमेश्वर की कृपा मनुष्य की कर्मगत या ज्ञानगत योग्यता से नहीं प्राप्त होती। कर्म का फल ऐश्वर्य है और ज्ञान का कैवल्य। ये दोनों महाकृपा के उद्बोधक नहीं हैं। महाकृपा का स्फुरण किसी जीव पर परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है। इस कृपा का संचार होने पर मनुष्य में शिवत्व आ जाता है। उस समय वास्तविक दृष्टि से परमात्मा की क्रिया शक्ति ही काम करने लगती है। उसका पूर्ण विकास होने पर शिवत्व पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।

कर्म और कृपा के समन्वय में ही योगी अखण्ड महायोग के मार्ग में आगे बढ़ता है।

अखण्ड महायोग का उद्देश्य है—गुरुकृपा के प्रभाव से काल की निवृत्ति। खण्ड रूप से यह अनादि काल से होती चली आ रही है, किन्तु उससे समग्र विश्व का सामूहिक कल्याण पूर्ण रूप से निष्पन्न नहीं होता। इसके लिए

आवश्यक है कि मोक्षपथ की ओर आरोहण का कार्य ससाप्त कर, महाशक्ति के साथ अपना तादात्म्य सिद्ध कर, स्वयं महाशक्तिसम्पन्न होकर योगी महा-प्रेम की साधना के लिए इसी संसार में अवतरण करे। इस अवतरण का उद्देश्य है— विशुद्ध प्रेम की साधना। महाकरुणा से प्रेरित होकर ही बुद्धदेव ने महाबोधि की प्राप्ति हो जाने पर भी निर्वाण में प्रवेश न कर सभी दुःखी जीवों के उद्धार का शिव-संकल्प किया था। महाप्रेमावस्था के सिद्ध हो जाने पर योगी महाप्रकाशमय हो जाता है। इसके अनन्तर स्वातन्त्र्य शक्ति का उन्मीलन होता है और जगत् में महाप्रेम के पूर्ण विकास का मार्ग खुल जाता है। उस समय क्रमश काल-राज्य गुरु-राज्य के अन्तर्गत हो जाता है। काल-संकर्षिणी शक्ति की क्रिया पूर्ण हो जाने पर काल तो रहता ही नहीं, अविद्या और माया की स्थिति भी नहीं रहती। काल-राज्य के पूर्णतया निवृत्त हो जाने पर गुरु राज्य की भी आवश्यकता नहीं रहती।

यही पूर्ण अद्वैत का स्वरूप है, पूर्ण ब्रह्मरूपी आत्मा का अपना स्वरूप है। वह अनन्त प्रकार से आनन्दमय लीला करता है, फिर भी लीलातीत नित्य साक्षी रूप में प्रतिष्ठित रहता है। उस समय इस प्राकृत जगत् का कुछ भी नहीं रहता, फिर भी सब कुछ रहता है। इस महायोग को 'अखण्ड' इसलिए कहा जाता है कि यह खण्डित नहीं होता। प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु का अभेद प्रतिष्ठित होता है, फिर भी उसका अपना स्वरूप नष्ट नहीं होता।

इस अखण्ड महायोगी की सिद्धि का चरम लक्ष्य है—समग्र विश्व के सामूहिक कल्याण के लिए व्यष्टिरूपेण योगिविशेष के द्वारा अमरत्व-प्राप्ति के उपरान्त समष्टि या महासमष्टि की दृष्टि से सारे जगत् में तादात्म्य प्रतिष्ठित कर क्रमशः निराकार और साकार प्रेम के उन्मेष के माध्यम से जगत् के सर्व-विध दुःखों के प्रहाण के साथ अखण्ड आनन्द के आलोक की उद्भावना।

श्रद्धेय कविराज जी के इस आध्यात्मिक अखण्ड महायोग को आधि-भौतिक स्थूल दृष्टि से अखण्ड संस्कृति के माध्यम से कुछ समझा जा सकता है। आधुनिक जगत् स्वत्व के संकोच के कारण दुःखी है। यह स्वत्व धर्म, राष्ट्र, राज्य, भाषा, जाति, कुटुम्ब-कबीले आदि के नाना विभ्रमों में पड़-कर बंटा हुआ है। अखण्ड संस्कृति के माध्यम से इन विभ्रमों को तोड़ पाने के उपरान्त ही अखण्ड स्वत्व का बोध संभव हो सकता है। कविराज जी को पुष्पदन्त के शिवमहिम्नः स्तव का—

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

यह श्लोक अत्यन्त प्रिय है। सहिष्णुता और समन्वय भारतीय इतिहास की विशेषता रही है। यह प्रक्रिया अब भी निरन्तर क्रियाशील है। त्याग और तपस्या के उच्च आदर्शों से अनुप्राणित साधु-सन्तों की परम्परा परस्पर के स्थूल भेदों को मिटाने में निरन्तर सचेष्ट रही है। महात्मा गांधी, योगी अरविन्द आदि महामानव इसी परम्परा की अलख जगाते रहे हैं। इन्होंने आधुनिक विश्व के वर्तमान धर्मों और विभिन्न वादों के विरोधी दृष्टिकोणों से सहिष्णुतापूर्वक समन्वय स्थापित कर अखण्ड संस्कृति के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है, जिससे विश्वसमष्टि में इस अखण्ड संस्कृति के आविर्भाव से स्वत्व का संकोच दूर हो और "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्त भावना का विकास हो। जहाँ प्रत्येक वस्तु के साथ प्रत्येक वस्तु के अभेद के प्रतिष्ठित होने पर भी अपने स्वरूप के नष्ट होने का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ विश्व के किसी भी वाद, धर्म अथवा संस्कृति के स्वत्व के लोप का भय क्यों उपस्थित होगा ?

अखण्ड महायोग के उपासक के स्थूल व्यापार की इति कर्तव्यता, इस अखण्ड संस्कृति के माध्यम से व्यष्टि एवं समष्टि में स्वत्व का विस्तार कर, उसमें विश्व के प्रति भ्रातृभाव का उन्मीलन कर, समाप्त होती है। इस प्रकार यहाँ स्वत्व का विस्तार होता है, लोप नहीं। अखण्ड महायोगी के आध्यात्मिक स्थूल चिन्तन में यह स्थूल व्यापार भी निरन्तर जुड़ा रहता है, जिससे कि दुःख-व्याधिग्रस्त यह समग्र विश्व अपने स्थूल रूप में भी शान्ति और प्रेम के आलोक से आलोकित हो सके।

तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धि : विश्वाहन्ता

आस्तिक-नास्तिक, वैदिक-अवैदिक सभी भारतीय दर्शनों में अपने अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचने में योग शास्त्र की सहायक भूमिका स्वीकार की गई है। प्रत्येक दर्शन में परम तत्त्व के निरूपण के साथ-साथ उस स्थिति तक पहुंचने के लिये शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक वताई गई है। शरीर और विशेष कर मन की शुद्धि यौगिक प्रक्रिया के आधार पर ही की जा सकती है। अतः अनिवार्य रूप में प्रत्येक दर्शन में योग का निरूपण पाया जाता है। प्रत्येक दर्शन की कुछ विशेष यौगिक प्रक्रिया भी हो सकती है, किन्तु कुछ सामान्य नियम सर्वत्र एक स्वर से मान्य है, जिनका कि पातंजल योगसूत्र में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग दर्शन को हम सर्वसामान्य अथवा आज की भाषा में धर्म-निरपेक्ष दर्शन कह सकते हैं, जिसमें कि विना किसी धार्मिक भेद-भाव के शारीरिक परिष्कार के साथ साथ मन के भी सर्वविध परिष्कार का मार्ग दिखाया गया है।

महर्षि पतंजलि के द्वारा प्रतिपादित अष्टांग योग का उपयोग मुख्यतः चित्त की वृत्तियों को, अर्थात् मन को नियन्त्रित करने के लिये किया जाता है। योग की सर्वोत्तम परिभाषा भी यही मानी जा सकती है। अष्टांग योग के अभ्यास से मनुष्य न केवल शारीरिक चेष्टाओं, किन्तु मन की नाना प्रकार की वृत्तियों पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ हो जाता है।

बौद्ध-वैष्णव और शैव-शाक्त तन्त्र ग्रन्थों में अष्टांग योग के स्थान पर षडंग योग का विधान है। इसमें पातंजल योग के यम, नियम और आसन इन तीन अंगों को छोड़ दिया गया है। बौद्ध तन्त्रों में अनुस्मृति और वैष्णव-शैव तन्त्रों में तर्क को योगांग के रूप में मान्यता मिली है। योग के क्षेत्र से ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणों को अपने में समेटे हुए यम-

---

१. जीवन और योगः संगोष्ठी स्मारिका, आयुर्वेद महाविद्यालय वाराणसी १९७६-७७ योग एवं तत्त्वबोध खण्ड पृ० ७४-७६ में प्रकाशित।

नियम नाम के अंगों का निष्कासन भारतीय इतिहास की एक शोचनीय घटना रही है। इसीलिये म० म० पी० वी० काणे महोदय को लिखना पड़ा कि तान्त्रिक षडंग योग से यम-नियम को इसलिये छोड़ दिया गया कि ये पंच मकार वाली दृष्टि के विरुद्ध पड़ते थे। हम आसनों के विना योग की कल्पना ही नहीं कर सकते। योगांग के रूप में आसन शारीरिक और मानसिक चिकित्सा की पहली सीढ़ी है। किन्तु इस तान्त्रिक योग में इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। योग का यह स्वरूप आज के हिप्पियों को आकर्षक लग सकता है। योग के अंग के रूप में तर्क को स्वीकार करने की बात आजकल के बुद्धिजीवियों को भी पसन्द आने लायक है। काश्मीर शैव-दर्शन के मूल ग्रन्थ मालिनीविजय तन्त्र (१७।१८) और अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक (४।१५) में तर्क को योग के अंगों में श्रेष्ठ माना है—

योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।

इतना ही नहीं, इन तन्त्र ग्रन्थों में 'गुरुतः शास्त्रतः स्वतः' इत्यादि शास्त्र वचनों के प्रमाण पर गुरुवचन और शास्त्रवचन की तरह अपनी प्रतिभा को भी अर्थ के निश्चय में प्रमाण माना गया है।

तान्त्रिक दर्शन और योग की कुछ बातें आज हमारे लिये समालोच्य हो सकती हैं. किन्तु उनकी विश्वाहन्ता की दृष्टि आज के विश्व के लिये वरदान स्वरूप है। तान्त्रिक दर्शन इस विश्व को अलीक या माया का खेल नहीं मानता, उसकी दृष्टि में यह जगत् उतना ही सत्य है, जितना कि प्रत्येक दर्शन का अपना परम तत्त्व होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि यह सब कुछ परमतत्त्वमय है, उस की शक्तियों का विलास है। परम तत्त्व अपनी कुछ शक्तियों को समेट कर परिमित प्रमाता बन जाता है और पुनः वही अपनी शक्तियों का विस्तार कर अपरिमित प्रमाता, पूर्ण प्रमाता हो जाता है। परिमित प्रमाता जीव और अपरिमित प्रमाता परम तत्त्व है। अज्ञ जीव की अहन्ता अपने शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु वह भी अपनी इस अहन्ता का विस्तार पुत्र-कलत्र, बन्धु-बान्धव, राष्ट्र आदि तक कर लेता है। इसी पद्धति से सारे विश्व के साथ अपनी अहन्ता का विस्तार कर लेना ही विश्वा-हन्ता कही जाती है। इस विश्वाहन्ता का प्रतिपालन आगम और तन्त्र ग्रन्थों में, विशेष कर कश्मीर और केरल में विकसित प्रत्यभिज्ञा दर्शन के ग्रन्थों में विस्तार से हुआ है। जीव और शिव ये दो भिन्न तत्त्व नहीं है। जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। जीव जब जान जाता है कि मैं ही शिव हूँ, तो उसको यह सारा विश्व शिवस्वरूप ही नजर आता है और इस तरह से

वह सारे विश्व को अहन्ता से ओत-प्रोत पाता है। यही स्थिति शास्त्रों में विश्वाहन्ता के नाम से कही गई है। विरूपाक्षपंचाशिका में इस स्थिति का वर्णन इस तरह से किया गया है—

विषयशरीरेन्द्रियधीप्राणनिरोधप्रसिद्ध्यदस्मित्वाम् ।
इत्थं चितिमखिलेऽध्वनि धारयतो विश्वदेहत्वम् ।। (श्लो० ४)

इस विश्वदेहभाव को विकसित करने के उपाय के रूप में तन्त्रशास्त्र में सहज योग का सहारा लिया गया है। विरूपाक्षपंचाशिका, परमार्थसार, तन्त्रालोक प्रभृति ग्रन्थों में इसका प्रसंगवश अथवा प्रधानतया वर्णन मिलता है। यह सहज योग सिद्धों को परम प्रिय रहा है, किन्तु केवल सिद्धों को केन्द्र-बिन्दु मान कर किया गया सहज योग का अनुशीलन अधूरा ही माना जायगा। कश्मीर ग्रन्थमाला से प्रकाशित विज्ञानभैरव नाम के ग्रन्थ में इस स्थिति तक पहुँचने के लिये ११२ धारणाओं का निरूपण किया गया है, जिनकी कि चरम परिणति सहज समाधि में होती है। इसमें प्रतिपादित प्रत्येक धारणा का विनियोग अन्ततः विश्वाहन्ता के विकास में, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होने में ही किया गया है। योगदर्शन में भी 'स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः' (४।३३) कह कर इसी स्थिति को योग का चरम लक्ष्य बताया है। विरूपाक्षपंचाशिका में कहा गया है—

ख्यातिमपूर्णां पूर्णख्यातिसमावेशदार्ढ्यतः क्षपय ।
सृज भुवनानि यथेच्छं स्थापय हर तिरव भासय च ।। (श्लो० ५२)

विज्ञानभैरव (श्लो० ११०) में बताया गया है कि जल की तरंगें जल से ही उठती हैं, अग्नि की लपटें अग्नि से ही निकलती हैं और सूर्य की किरणें सूर्य से ही सर्वत्र फैलती हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी शिव से ही निकलता है—

जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभङ्ग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्ग्यो विभेदिताः ।।

विज्ञानभैरव के आरम्भ में—

तत्त्वतो न नवात्माऽसौ शब्दराशिर्न भैरवः ।
न चासौ त्रिशिरा देवो न च शक्तित्रयात्मकः ।।
नादबिन्दुमयो वापि न चन्द्रार्धनिरोधिका ।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपकः ।। (श्लो० ११-१२)

इन दो श्लोकों में इससे पूर्व विकसित विभिन्न तान्त्रिक दृष्टियों में प्रतिपादित परम तत्त्व के स्वरूपों का और उन उन स्वरूपों की अधिगति (प्राप्ति) के लिये अनुष्ठेय विभिन्न यौगिक उपायों का निषेध किया गया है। वहाँ परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

अन्तःस्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
यावस्था भरिताकारा भैरवी भैरवात्मनः ।।

तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवंविधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ।। (श्लोक १५-१६)

विज्ञानभैरव के अन्त में सहज योग के अनुरूप जप, तर्पण, स्नान, ध्यान, होम, याग, क्षेत्र, तीर्थ आदि की वे व्याख्याएं दी गई हैं, जिनको कि आज कल सिद्धों और सन्तों की अनोखी स्वच्छन्द कल्पना माना जाता है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि तन्त्रशास्त्र की कुछ शाखाओं की विसंगतियों के कारण आज पूरे आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र का विशाल वाङ्मय उपेक्षित कर दिया गया है। वास्तव में इनके बिना भारतीय वाङ्मय की किसी भी शाखा का अध्ययन अधूरा ही रहेगा। हम आयुर्वेद को ही लें। शिव के पूर्व मुख से गारुड तन्त्रों का और पश्चिम मुख से भूत तन्त्रों का प्रादुर्भाव माना जाता है।

प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय में २८ गारुड तन्त्रों के साथ २४ भूत तन्त्रों के नाम गिनाये गये हैं। गारुड तन्त्रों में नाना प्रकार के विषों का तथा भूत तन्त्रों में मानसिक रोगों की विभिन्न दशाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। किन्तु अन्य क्षेत्रों के समान आयुर्वेद के इतिहास ग्रन्थों में भी इन ग्रन्थों का न तो कोई उल्लेख है और न उनके अध्ययन की ओर कोई प्रवृत्ति ही है। श्रद्धेयचरण म० म० पं० श्री गोपीनाथ कविराज महोदय का एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है – तान्त्रिक साहित्य। इस ग्रन्थ में जिन तन्त्र ग्रन्थों का समावेश किया गया है, उनमें आयुर्वेद सम्बन्धी विषयों का विस्तार से वर्णन मिलता है।

हमने ऊपर बताया है कि वैदिक-अवैदिक, आस्तिक-नास्तिक सभी दर्शनों में योग शास्त्र की प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रारम्भ से लेकर आज तक उसका एक ही रूप रहा। कुछ मूल मान्यतायें समान रहते हुए भी इस शास्त्र का भारतवर्ष में आश्चर्यजनक

विकास हुआ है। इसका लेखा-जोखा इस छोटे से निबन्ध में नहीं किया जा सकता। शीघ्र ही प्रकाशित होने वाले विज्ञानभैरव के हिन्दी अनुवाद के उपोद्घात में इस विषय पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि तान्त्रिक योग की विश्वाहन्ता दृष्टि उन संकीर्ण मानवीय भावनाओं को दूर करने में सर्वाधिक समर्थ हो सकती है, जिनके कारण आज का मानव-समाज मनोवैज्ञानिक रूप से रोगशय्या पर पड़ा हुआ है।

— — —

[1]सिद्ध और सहजयान

उत्तर भारत के मध्यकालीन तथा परवर्ती साहित्य में सिद्ध और नाथ शब्द बहुत प्रचलित हैं, किन्तु हमारी समझ में इसके सही अर्थों का निर्धारण अभी तक नहीं हो पाया है। सिद्धों और नाथों का ही नहीं, तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल भी छठी से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। दक्षिण भारत के आलवार और अलियार सन्तों का आविर्भाव काल भी यही है। सिद्ध, नाथ, आलवार और अलियार ये सभी विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं, किन्तु इन सभी में दो समानताएं निर्विवाद रूप से मान्य हैं। एक तो यह कि इनमें सभी वर्णों (ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक) को समान आदर प्राप्त था और दूसरा यह कि ये सभी तान्त्रिक धर्म और संस्कृति से प्रभावित थे।

तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल

तन्त्रशास्त्र का आविर्भाव काल छठी से बारहवीं शताब्दी मान कर अनेक विद्वानों ने इस शास्त्र के साथ न्याय नहीं किया है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं। 'आगम आणि तन्त्रशास्त्र' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर हमने विस्तार से विचार किया है। संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद्, पाणिनि की अष्टाध्यायी, शिलालेख, रामायण, महाभारत ही नहीं, बौद्ध और जैन धर्म के पालि और प्राकृत वाङ्मय के उद्धरणों से भी पांचरात्र और पाशुपत के नाम से प्रसिद्ध वैष्णव और शैव धर्म की स्थिति मान्य हो चुकी है। पाशुपत मत के आचार्य लकुशील एक ऐतिहासिक व्यक्ति है। इनका स्थितिकाल ईशा की पहली-दूसरी शताब्दी माना गया है। पांचरात्र और पाशुपत मत का प्राचीन साहित्य आगम के नाम से प्रसिद्ध है और इन्हीं में तन्त्रशास्त्र का प्राचीन स्वरूप देखा जा सकता है।

---

१. अखण्ड महायोग के पथ पर, वाराणसी (द्वितीय सुषमन, सितम्बर, १९७८) में प्रकाशित।

आगमशास्त्र और बौद्ध महायान ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने के कारण ही हमें तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की असत्कल्पना करनी पड़ती है। पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन प्रभाव का मूल्यांकन किये विना जैसे महाभारत और पुराणों का, आलवारों और अलियारों का अध्ययन वस्तुतः अधूरा है, उसी तरह से सिद्ध साहित्य ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन भी आगमशास्त्र और विशेष कर इसकी कौल शाखा के अध्ययन के विना अधूरा ही रह जाता है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में आगम और तन्त्रशास्त्र के सभी प्राचीन सम्प्रदायों का विस्तार से वर्णन किया है। उनकी पृष्ठभूमि में बौद्ध तन्त्रों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान – ये सब मत्स्येन्द्र नाथ के द्वारा प्रवर्तित कौलशास्त्र के ही विभिन्न रूप हैं।

कुलशास्त्रावतारक मत्स्येन्द्र

अभिनवगुप्त और अघोरशिवाचार्य ने कौलशास्त्र का प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र को माना है। प्रायः अधिकांश विद्वान् मत्स्येन्द्रनाथ का समय ९वीं शती का अन्तिम चरण या १०वीं शती का प्रथम चरण मानते हैं। डा० शाहिदुल्ला द्वारा निर्णीत मत्स्येन्द्र का ७वीं शती का समय सर्वथा भ्रमात्मक माना जाता है। किन्तु इस तरह के कथन गलत आधारों के कारण स्वयं अपने आप में कमजोर हैं। इसके विपरीत डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने मत्स्येन्द्रनाथ का आविर्भाव काल ५वीं या छठीं शताब्दी में माना है। डा० पाण्डेय जी ने यह स्थापना मत्स्येन्द्रनाथ की लम्बी शिष्य-परम्परा को आधार मानकर की है। इस लम्बी नामावली में गोरक्षनाथ की कहीं कोई चर्चा नहीं है। बारहवीं शताब्दी तक के किसी संस्कृत ग्रन्थ में गोरक्षनाथ की कोई चर्चा नहीं आती और न कहीं गोरक्षनाथ के गुरु के रूप में मत्स्येन्द्रनाथ की ही चर्चा मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक और गोरक्षनाथ को उनका शिष्य मानने का आग्रह ही मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव काल को आगे खींच ले आने के लिये जिम्मेदार है।

डा० प्रबोधचन्द्र बागची को कौलज्ञाननिर्णय प्रभृति ग्रन्थों की पाण्डुलिपि न मिली होती और मत्स्येन्द्रनाथ का उल्लेख अभिनवगुप्त द्वारा न किया गया होता तो शायद मत्स्येन्द्रनाथ के समय में और भी खींचतान की गई होती, क्योंकि महार्थमंजरी को गोरक्षनाथ की कृति माना जाता है। यह सही है कि महार्थमंजरीकार ने अपना व्यवहार का नाम गोरक्ष और दीक्षा नाम महेश्वरा-

नन्द बताया है, किन्तु ये अपने गुरु का नाम महाप्रकाश और परमगुरु का नाम शिवानन्द लिखते हैं। शिवानन्द की ऋजुविमर्शिनी तथा अन्य ग्रन्थों का भी इन्होंने उल्लेख किया है। ऋजुविमर्शिनी नित्याषोडशिकार्णव की टीका है और यह ग्रन्थ अब प्रकाशित हो चुका है। शिवानन्द के प्रमाण पर ही उनका समय १३वीं शताब्दी से पहले किसी भी मूल्य पर नहीं लाया जा सकता। महार्थमंजरीकार को गोरक्षनाथ मान कर चलने पर उनका सम्बन्ध मत्स्येन्द्रनाथ के साथ किसी भी तरह से नहीं जोड़ा जा सकता। एक तो वे स्वयं ही अपने गुरु का नाम महाप्रकाश बताते हैं, मत्स्येन्द्रनाथ नहीं; दूसरे मत्स्येन्द्रनाथ को नाथ सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानने वाले भी अब इसके लिये बाध्य हैं कि वे उनका समय ९वीं १०वीं शताब्दी से अधिक आगे नहीं खींच सकते। इसी प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि अभी हाल में वाराणसी से प्रकाशित गोरक्षसंहिता का भी वस्तुतः गोरक्षनाथ से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस ग्रंथ का वास्तविक नाम मतोत्तर है। इसके साथ गोरक्षनाथ का नाम कैसे जुड़ गया, यह एक गवेषणा का विषय है।

डा० प्रबोधचन्द्र बागची के मत से कौलज्ञाननिर्णय प्रभृति ग्रन्थ मत्स्येन्द्रनाथ की कृति है। किन्तु स्वयं कौलज्ञाननिर्णय में ही पंचपंचाशिका, कुलपंचाशिका, कुलसागर, भैरवोद्यान, चन्द्रकौल, सिद्धामृत, ऊर्मिकौल, कौलसद्भाव प्रभृति ग्रन्थों के नाम मिलते हैं और इनमें से अनेक ग्रंथ तन्त्रालोक और उसकी टीका में उद्धृत हैं। वस्तुतः अभिनवगुप्त और उसके टीकाकार जयरथ के प्रमाण पर सभी कुल शास्त्रों के अवतारक मत्स्येन्द्रनाथ हैं। अघोरशिव (मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका, विद्यापाद, पृ० ७४) ने हिरण्यगर्भ, कपिन और मत्स्येन्द्र को क्रमशः वेद, सांख्य और कौल शास्त्र का प्रवर्तक माना है। इसी परम्परा के आधार पर कौलज्ञाननिर्णय प्रभृति ग्रंथों का अवतारक भी मत्स्येन्द्र को ही मान लिया गया है। किन्तु इस ग्रंथों की मातृका की तिथि के आधार पर मत्स्येन्द्रनाथ का समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। तन्त्रालोककार अभिनवगुप्त के पहले कुल और क्रम आगम के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है और यह पूरी परम्परा मत्स्येन्द्र के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है। सिद्धान्त शैव के ग्रंथ मृगेन्द्रागम में भी योगिनीकौल और सिद्धकौल सम्प्रदाय का उल्लेख है।

छठी शताब्दी के आस-पास बौद्ध धर्म में सहसा तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश की बात मानी जाती है और यह भी स्वीकार किया गया है कि इससे इतनी शीघ्रता से बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तित होता है कि उसके मूल रूप

का कहीं पता ही नहीं चलता । इस तरह के लेखक तान्त्रिक शब्द का प्रयोग एक संकीर्ण अर्थ में करते हैं, जिसमें कि पंचामृत, पंच मकार जैसी विधियां वर्णित हैं । इनका स्वरूप गुह्यसमाज तंत्र और कौलज्ञाननिर्णय में एक सा है । इसका क्या कारण है ?

सिद्ध और नाथ

तन्त्रालोक के अन्तिम आह्निक में अभिनवगुप्त श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा से सिद्धों के अवतार की चर्चा करते हुए कहते हैं कि अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत शैवागमों के क्रमशः त्र्यम्बक, आमर्दक और श्रीनाथ नाम के आचार्य हुए और इन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के मठों की स्थापना की । अद्वैतवादी सिद्ध त्र्यम्बक की दुहिता के वंश में भी एक मठ स्थापित हुआ । शिवदृष्टिकार सोभानन्द त्र्यम्बक को अपना पूर्वज मानते हैं । इनके पुत्र का नाम संगमादित्य, संगमादित्य के पुत्र वर्णादित्य, वर्णादित्य के अरुणादित्य और अरुणादित्य के पुत्र का नाम आनन्द था । ये आनन्द सोभानन्द के पिता थे । इस प्रकार अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञा दर्शन की यह परम्परा बनती है । त्र्यम्बक की दुहिता का सम्वन्ध कामरूप में प्रादुर्भूत कौल सम्प्रदाय से था । द्वैतवादी आमर्दक मठ कवचशिव, सदाशिव, हृदयशिव, व्योमशिव प्रभृति सिद्धांत शैव दर्शन के आचार्यों से सम्वद्ध रहा है ।

अभिनवगुप्त ने ही तंत्रालोक में बताया है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपार्जित ज्ञान को छः राजपुत्रों में बांट दिया और इन राजपुत्रों की परम्परा को आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी—इन छः शब्दों से जोड़ दिया, अर्थात् इन परम्पराओं में दीक्षित होने वाले शिष्यों के नामों के अन्त में आनन्द आदि शब्दों को जोड़ने का भी विधान कर दिया । इनमें से आनन्द और योगी शब्द शैव-शाक्त परम्परा में और बोधि, प्रभु तथा पाद शब्द बौद्ध परम्परा में मिलते हैं ।

सिद्धों की नामावली में नाना रूपों में प्रायः सर्वत्र घूम-फिर कर पहला नाम मत्स्येन्द्र का ही आता है । ये ही कौल सम्प्रदाय के प्रथम प्रवर्तक थे । इस कौल मार्ग की साधना पद्धति दो प्रकार की थी—एक कृतक और दूसरी सहज । कुण्डलिनी की साधना कृतक तथा और समरस स्थिति को सहज साधना कहा गया है । इन दोनों प्रकार की साधनाओं में लीन योगी ही सिद्ध कहलाते थे । यह साधना शैव, बौद्ध और जैन सभी धर्मों में मान्य थी । यह

कहा जा सकता है कि ये सिद्ध वर्ण जाति और धर्म से अतीत रहते हुए भी कभी-कभी सभी धर्मों की और कभी-कभी किसी एक धर्म की विधियों का अनुवर्तन करते थे। बौद्ध धर्म में रूपान्तर उपस्थित करने वाला यही तत्त्व था।

यह ध्यान देने की बात है कि ऊपर वर्णित छ औवल्लियों में नाथ शब्द नहीं आया है। सम्भवतः क्रम दर्शन में इस शब्द को मान्यता मिली हो, जिसमें कि इस दर्शन के प्रथम आचार्य को अवतारकनाथ या शिवानन्दनाथ नाम दिया गया है। त्रिपुरादर्शन के आचार्यों के दीक्षा नाम के साथ भी आनन्दनाथ जोड़ा जाता है और परशुरामकल्पसूत्र में इसका स्पष्ट विधान है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रथों में नव नाथों का उल्लेख है, किन्तु नाथ सम्प्रदाय में प्रचलित नामावली से यह भिन्न है। इस नामावली में भी गोरक्षनाथ का नाम नहीं है। त्रिपुरा सम्प्रदाय में गुरु पंक्ति दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ परम्परा में विभक्त है तथा इन सभी आचार्यों के नाम के अन्त में आनन्दनाथ जुड़ा हुआ है। किन्तु इन नामावलियों का भी सिद्धों और नाथों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। अभी ऊपर श्रीकण्ठनाथ और श्रीनाथ की चर्चा आई है। महाभारत के अनुसार उमापति श्रीकण्ठ पाशुपत मत के प्रवर्तक हैं। श्रीनाथ द्वैताद्वैत शैवदर्शन के आचार्य हैं। इस प्रकार नाथ शब्द पाशुपत सम्प्रदाय से जुड़ा प्रतीत होता है।

इस पृष्ठभूमि में इस उक्ति का कोई अर्थ नहीं रह जाता कि यद्यपि शैव नाथ योगियों को भी सिद्ध कहा जाता था, किन्तु कतिपय कारणों से हिन्दी तथा अन्य कई प्रान्तीय भाषाओं में शैव योगियों के लिए नाथ तथा बौद्ध तान्त्रिकों के लिये सिद्ध शब्द प्रचलित हो गया। पूर्वोक्त भ्रान्तिपूर्ण अध्ययन की यह परिणति है।

कालिदास के मेघदूत में सिद्धों का वर्णन देखकर यह कल्पना की जाती है कि उस समय मालव प्रदेश के दक्षिण में सम्भवतः महाराष्ट्र के आस-पास सिद्धों की परम्परा थी, जो सपत्नीक रहते थे। वस्तुतः अमरकोशकार ने देवयोनि में इन सिद्धों की गणना की है। कुमारसंभव में हिमालय का वर्णन करते समय भी कालिदास ने देवयोनिविशेष सिद्धों का ही वर्णन किया है।

शक्तिसंगम तन्त्र में अनेक स्थलों पर ८४ सिद्धों और ९ नाथों का उल्लेख मिलता है। वहाँ शावर (भाषा) मन्त्रों के दो भेद बताए गये हैं —सिद्धोक्त और नाथोक्त। सिद्धों की संख्या ८४ और नाथों की संख्या ९ क्यों निश्चित

की गई ? इसका कोई संतोषजनक उत्तर हमारे पास नहीं है, किन्तु इतना हम निश्चयपूर्वक कहना चाहेंगे कि कौल सम्प्रदाय, वज्रयान, सहजयान के आचार्य सिद्धों और पाशुपत मत तथा हठयोग के आचार्य नाथों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

हठयोग के बीज यद्यपि पाशुपत योग और कौल सम्प्रदाय की कृतक शाखा में भी मिलते हैं जिसमें कि वज्रयान का समावेश भी किया जा सकता है, तथापि इसको व्यवस्थित रूप देने वाले संभवतः गोरक्षनाथ थे। इस बात को पूरी तरह से नहीं स्वीकार किया जा सकता कि नाथ सम्प्रदाय मैथुनवर्जी था, क्योंकि वज्रोली जैसी क्रियाओं का वर्णन वहाँ मिलता है। यह माना जा सकता है कि कौल परम्परा की कुछ मान्यताओं का उन्होंने विरोध किया और पर्याप्त परिष्कार के बाद ही उस परम्परा से इन्होंने अपना नाता जोड़ा। 'जाग मछिन्दर गौरव आया' जैसी लोकोक्तियों का सम्बन्ध केवल इतना ही जोड़ा जा सकता है। हठयोग को व्यवस्थित स्वरूप बारहवीं अथवा तेरहवीं शताब्दी में मिला होगा, जबकि कुलमार्ग की प्रतिष्ठा मत्स्येन्द्र के द्वारा छठी शताब्दी में हो चुकी थी।

यह माना जाता है कि दोहों और वर्ण पदों की साधना-पद्धति हिन्दू परम्परा से प्रभावित प्रतीत होती है। इसका मुख्य कारण यह कौल दृष्टि का प्रवेश ही है। ऐसा क्यों हुआ कुलशास्त्र की प्रवृत्ति किन परिस्थितियों में हुई ? यह अभी भी खोज का विषय है।

शैव धर्म को सिद्धान्त शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक सम्प्रदायों में बांटकर इनका सम्बन्ध चारों वर्णों से जोड़ा जाता है। वेदान्त सूत्र के तर्कवाद में भाष्यकारों और टीकाकारों ने इनका उल्लेख किया है और पुराणों में इनकी चर्चा है। अभिनवगुप्त और भास्करराय आदि तान्त्रिक आचार्यों ने कौल साधनाओं के बीज आरण्यकों और उपनिषदों में खोज निकाले हैं। वज्रयानी साधना में और सिद्धों की दिनचर्या में कौल और कापालिक दोनों ही सम्प्रदायों के तत्त्व समान रूप से मिलते हैं। हमारी कल्पना के अनुसार हठयोग का सम्बन्ध पाशुपत सम्प्रदाय से किसी न किसी प्रकार का रहा है। सिद्धों और नाथों का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिये।

कौल और षडंग योग

वस्तुतः कुलदर्शन एक योगविधि है। योगशास्त्र की प्रवृत्ति धर्मनिरपेक्ष

होती है। कौल और षडंग योगविधि का शैव, बौद्ध, शक्ति और जैन सभी धर्मों में अपने-अपने तरीके से विकास हुआ है। बौद्ध धर्म में इनका विकास वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान के नाम से हुआ है। सिद्ध इस पूरी परम्परा से अनुप्राणित हैं। विज्ञानवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में इन तीनों यानों के सिद्धान्त शैव और शक्ति परम्परा में भी अपनी अपनी व्याख्या के अनुसार स्वीकृत हैं। प्राणचार आनापान-स्मृति का ही एक स्वरूप है। प्राणचार के वर्णन के प्रसंग में क्रमदर्शन में काली की और त्रिपुरा दर्शन में तिथि नित्याओं की उपासना में काल की सूक्ष्म परिभाषाएं की गई हैं। कालचक्रयान से ये बहुत दूर नहीं हैं। सहज विधि का भी इनमें वर्णन है। हमने विज्ञानभैरव के उपोद्घात में इस विषय पर विचार किया है। पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत के भेद से व्याख्यात कौल योगविधि का जैन योगशास्त्रों में भी विस्तार से वर्णन मिलता है। षडंग योग की भी सभी सम्प्रदायों में चर्चा है। अन्तर इतना ही है कि बौद्ध अनुस्मृति के स्थान पर शैव योग में वीक्षण या अभिवीक्षण को तथा शक्ति और वैष्णव ग्रंथों में तर्क को स्वीकार किया गया है। इन सभी योगविधियों की परस्पर तुलना के आधार पर ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। जैसे सहजयान या कालचक्रयान से वज्रयान का कोई अलग सम्प्रदाय नहीं है, वैसे ही वज्रयान, शैव और शक्ति कौल दर्शन तथा जैन योग की रूपातीत ध्यान विधि में भी कोई अन्तर नहीं है।

सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों में समानता की बात मानी जाती है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि इन सम्प्रदायों पर योगाचार और माध्यमिक सम्प्रदायों का प्रभाव था, किन्तु साथ ही यह भी कहा जाता है कि भारतीय धार्मिक सस्कृति में सहसा तान्त्रिक साधनाओं का प्रादुर्भाव हुआ। ऐसा कहने वालों का अभिप्राय यह है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में यह आकस्मिक परिवर्तन विदेशी प्रभाव के कारण हुआ।

क्या तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव है?

पालवंशी राजाओं को बौद्धों और सहजयानी सिद्धों का आश्रयदाता माना जाता है। पालवंश के प्रतिष्ठापक गोपाल के अभिषेक की तिथि लगभग ७५० ई० अनुमानित की गई है। ७७० ई० में गोपाल का पुत्र धर्मपाल और धर्मपाल के उपरान्त ८१० ई० में देवपाल गद्दी पर बैठा। इसी अवधि में किसी समय चीन से आयातित ताओवाद का सिद्धों पर प्रभाव पड़ा और तभी से सिद्धों की सहजयान शाखा का विकास हुआ। इस प्रसंग में हम अभी हाल में नेपाल से प्रकाशित लक्षणसारसमुच्चय नामक ग्रन्थ की ओर विद्वानों

का ध्यान आकृष्ट कराना चाहते हैं। इसके लेखक वैरोचन हैं। ग्रन्थ के अन्त में इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

आसीद् गोपालभूपः सकलवसुमतीभूषणो दोषहीन-
स्तस्याङ्गांशो महात्मा कृतनृपतियतिर्धीरनाथः पृथुश्रीः।
तत्पुत्रः प्राप्तकीर्तिर्वचनचतुरिमा विश्रुतो भूमिचक्रे
चक्रे सोऽयं प्रतिष्ठाविधिमतिललितं पंचवक्त्रोपगीतम् ॥
श्रीमन्मत्तमयूरजो हरसमः शैवोऽर्जुनद्योतकः
प्रख्यातो विमलादिकः शिवपरश्वाचार्यवर्योऽभवत्।
पूज्यो निर्भरभूमिपस्य च गुरुस्तेनाभिषिक्तः स्वयं
ज्ञानीशानशिवस्तदङ्घ्रिजनितो वैरोचनो देशिकः ॥

इन श्लोकों में गोपाल के पुत्र का नाम धीरनाथ बताया है, जो कि धर्मपाल का ही दीक्षा नाम है। धीरनाथ के पुत्र वैरोचन ने इस ग्रन्थ की रचना की है। आमर्दक मठ की द्वैतवादी शैव परम्परा की एक शाखा का नाम मत्तमयूर था। निर्भर भूमिपाल के गुरु विमलशिव थे। विमलशिव के शिष्य ईशानशिव से वैरोचन ने दीक्षा ली थी। ये शैवाचार्य भट्ट कुमारिल की उक्ति के कायल नहीं थे। इनके ग्रन्थों में भगवान् बुद्ध भी विष्णु के दस अवतारों में वर्णित हैं। इस परिस्थिति में पालवंश के राजाओं को केवल बुद्ध धर्म और बौद्ध सिद्धों का आश्रयदाता मानना युक्तिसंगत नहीं है।

'आगम आणि तन्त्रशास्त्र' नामक निबन्ध में हमने तन्त्रशास्त्र को दो विभागों में विभक्त किया है। अभिनवगुप्त से पहले आविर्भूत शास्त्र प्राचीन और उसके बाद विकसित शास्त्र नवीन है। प्राचीन साहित्य पर विदेशी प्रभाव की बात को हम स्वीकार नहीं करते, इस पर भी हम वहाँ प्रकाश डाल चुके हैं। जब हम अपनी परम्परा की कड़ियों को न जोड़ सकें, तभी बाह्य प्रभाव की बात मानना उचित हो सकता है। अभिनवगुप्त प्रभृति तान्त्रिक विद्वानों ने सौत्रामणी याग तथा आरण्यक ग्रन्थों से कौल विधि की परम्परा को जोड़ा है। इस क्षेत्र में अभी अधिक स्पष्ट अनुसन्धान अपेक्षित है। हमारे मत के अनुसार ताओवाद के प्रभाव की जो कालसीमा बताई जाती है, उससे पहले ही कौल योग और उसकी सहज विधि का वहाँ प्रसार हो चुका था।

कुब्जिकामत तन्त्र के 'गच्छ त्वं भारते वर्षे' इस प्रसिद्ध श्लोक के आधार पर तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव की बात सिद्ध की जाती है, किन्तु इस तरह के ग्रन्थों की प्राचीनता परीक्षणीय है। डा० प्रबोधचन्द्र बागची ने कम्बोडिया में प्राप्त शिलालेख में उद्धृत चार तन्त्र ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करते हुए संमोहन तन्त्र को एक प्राचीन तन्त्र सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु अपने उपोद्घात में हम यह बता चुके हैं कि यह ग्रन्थ शक्तिसंगम तन्त्र का एक अ्रश है, जोकि १६-१७वीं शताब्दी की रचना है।

पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, सन्दोह, उपसन्दोह, पीलव, उपपीलव, श्मशान, उपश्मशान के भेद से अनेक पवित्र तीर्थ स्थानों (सिद्ध पीठों) का उल्लेख हेवज्र तन्त्र, तन्त्रालोक और उसकी टीका विवेक में उद्धृत अनेक ग्रन्थों, शैवसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों और कौलज्ञाननिर्णय में भी समान रूप से मिलता है। इनमें उल्लिखित इन पवित्र स्थानों की सीमा भूटान, नेपाल, तिब्बत, मध्य-एशिया, पश्चिम एशिया तक फैली हुई थी। इस प्राचीन तान्त्रिक संस्कृति का विस्तार दक्षिण पूर्व एशिया में भी हो चुका था। इस विशाल तान्त्रिक संस्कृति के बीज समान रूप से बौद्ध महायान साहित्य, वैष्णव और शैव आगम तथा पुराणों में खोजे जा सकते हैं।

तन्त्रशास्त्र और सिद्धों पर अब तक जो कुछ लिखा गया है, उसकी एक ध्यान देने योग्य कमी यह रही है कि इस विषय की मौलिक सामग्री से बहुत कम लेखकों का संपर्क हो पाया है। अधिकांश लेखकों ने उन कुछ चुने हुए विद्वानों के बनाये मार्ग का आँख मूंदकर अनुसरण किया है, जिनकी कि सामग्री अब पुरानी पड़ चुकी है। ऐसा करते समय कहीं-कहीं बहुतसी भद्दी गलतियां हो गई हैं और ऐसा हिन्दी साहित्य के ख्यातनामा लेखकों की कृतियों में देखा जा सकता है। बहिःशास्त्र, परदर्शन, आकर जैसे शब्दों को ग्रन्थ का नाम मान लिया जाता है। वस्तुत. ग्रन्थकार अपने से भिन्न शास्त्रों और दर्शनों के लिए प्रथम दो शब्दों का प्रयोग करते हैं और अपने शास्त्र के ग्रन्थ को 'आकर' कहते हैं।

सिद्धियां

सिद्धों के साथ सिद्धियां जुड़ी हुई हैं। इन सिद्धियों को भी हिन्दू और बौद्ध धर्म में बांट दिया गया है। शक्तिसंगम तंत्र के उपोद्घात में हमने बताया है कि खड्ग, अंजन, पादलेप प्रभृति सिद्धियां केवल बौद्ध तन्त्रों में ही नहीं,

शैव, शक्ति, वैष्णव सभी तन्त्रों में उल्लिखित हैं। इन सिद्धियों के समान ही षडंग योग भी तन्त्रों की सभी शाखाओं में वर्णित है। विज्ञानभैरव के उपोद्घात में हम इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। सिद्धियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि अणिमा प्रभृति आठ सिद्धियां पतंजलि के अष्टांग योग से तथा खड्ग, पाताल प्रभृति आठ सिद्धियां तान्त्रिक षडग योग से सम्बद्ध हैं। सिद्धों के सहजयान की मूल मंशा भी प्रायः सभी तांत्रिक शाखाओं में समान रूप से मान्य है।

सहजयान की प्रवृत्ति के प्रसंग में विष्णुपुराण का यह श्लोक प्रायः उद्धृत किया जाता है —

ततः सा सहजा सिद्धिस्तासां नातीव जायते।
रसोल्लासादयश्चान्याः सिद्धयोऽष्टा भवन्ति याः ।।

टीकाकार विष्णुचित्त ने सहज सिद्धि का अर्थ औत्पत्तिक ज्ञान और श्रीधर ने स्वाभाविक सिद्ध किया है। पतंजलि की जन्मज सिद्धि से इसकी तुलना की जा सकती है। दोनों टीकाकारों ने यहाँ स्कन्दपुराण को उद्धृत कर रसोल्लास प्रभृति आठ सिद्धियों का वर्णन किया है। उक्त दोनों प्रकार की अष्टसिद्धियों से ये भिन्न हैं। विज्ञानभैरव के ७१वें श्लोक में जग्धि और पान से प्राप्त होने वाली उल्लास, रस और आनन्द दशाओं का वर्णन मिलता है। सिद्धों की दिनचर्या से इन वर्णनों का पूरा सामजस्य बैठता है।

सहज योग

डा० दासगुप्त योगवाशिष्ठ पर विज्ञानवाद का प्रभाव मानते हैं, किन्तु इस पर शैव दर्शन की स्पन्द शाखा का तथा विज्ञानभैरव सरीखे ग्रंथों का भी पूरा प्रभाव है। योगवाशिष्ठ को सहज योग का विशाल ग्रंथ मान सकते हैं। इन सब ग्रंथों का आविर्भाव उस कालावधि से पहले हो चुका था, जिसमें कि भारतीय संस्कृति पर ताओवाद के प्रभाव की और बौद्ध सिद्धों के आविर्भाव की बात कही जाती है।

कौलज्ञाननिर्णय में सहज तत्त्व को काम-कलात्मक माना है। शक्तिसंगमतंत्र में इस मन्त्र को कामकला कहा है। कौलज्ञाननिर्णय में ही हृदय स्थित प्राणापान व्यापार (श्वास-प्रश्वा प्रक्रिया को) जिसका कि आनापानस्मृति के रूप में पालि ग्रंथों में विवरण मिलता है, सहज देव कहा गया है। हृदय का स्पन्दन व्यापार सहज (स्वाभाविक) रूप से बिना प्रयत्न के निरन्तर

प्रवृत्त रहता है। सिद्ध भी इसी सहज गति से लोक-व्यवहार में लगा रहता है। सिद्धों की इस स्थिति का काश्मीर शैव ग्रंथों में अनुपाय प्रक्रिया के नाम से वर्णन मिलता है। रागात्मक वृत्ति का परिष्कार सहजयान का मुख्य उद्देश्य रहा है। इस विषय पर हम अन्यत्र विस्तार से लिख चुके हैं।

धार्मिक चिन्तन अभी भी भट्ट कुमारिल की उक्ति के इर्द-गिर्द ही घूम रहा है। सत्य एक ओर अविभाज्य होता है। इसको देश, काल और धर्म की परिधि में बांटा नहीं जा सकता। धार्मिक श्रेष्ठता का व्यामोह सही विचारों को पनपने नहीं देता। सिद्ध इस व्यामोह से मुक्त थे। सिद्धों का और सहज-यान का अध्ययन इसी पृष्ठभूमि में होना चाहिए। सहज योग भारतीय मनीषा की एक उत्कृष्ट अवधारणा है। इसकी सहायता से हम विश्वाहन्ता का विकास कर एक विश्वसंस्कृति का विकास कर सकते हैं।

———

[1]तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र का भविष्य

तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्र की आजकल पूरे विश्व में बड़ी चर्चा है। किन्तु इससे आने वाले खतरे की ओर से हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिये। ब्रह्मचारी योगियों और तान्त्रिकों की पहुंच देश के बड़े बड़े राजनीतिज्ञों तक है। इसको उलट कर भी कह सकते हैं कि ये राजनीतिज्ञ इनको बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते हैं। विदेशों में भारतीय योगशास्त्र का डंका वजाने वाले योगियों की भी कोई कमी नहीं है। यह बात सही है कि तन्त्रशास्त्र ने और उससे अनुप्राणित योगशास्त्र ने वर्ण, लिंग, जाति, सम्प्रदाय, देश आदि की सीमा लांघकर मानव मात्र को इसका अधिकारी बताया है, किन्तु ऐसा करते समय उसमें कुछ दोष भी आ गये हैं। प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु बाद में स्थिति बदल गई। गृहस्थ ऋषि का स्थान भिक्षु, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु भिक्षुओं, मुनियों और संन्यासियों के इर्द-गिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाओं का एक रहस्यात्मक ताना-बाना बुना जाने लगा और इसी पृष्ठभूमि में रहस्यात्मक शास्त्रों का भी आविर्भाव हो गया। उपनिषदों को रहस्य कहा जाता था, किन्तु औपनिषदिक रहस्य एक अलौकिक तत्त्व था। तान्त्रिक योगियों ने इस आलौकिक तत्त्व को सत्तर्क और स्वात्मप्रत्यभिज्ञा द्वारा रहस्य के आवरण से मुक्त कर स्वात्मस्वरूप अथवा जीवन्मुक्त अवस्था के रूप में प्रतिष्ठित किया, लेकिन उसके स्थान पर उन्होंने लौकिक जीवन को ही रहस्यों में ढक दिया। मनुष्य की रागात्मक वृत्ति का प्रशमन तान्त्रिक अवधारणाओं का एक लक्ष्य माना जा सकता है, किन्तु विगत सहस्राधिक वर्षों से तन्त्रशास्त्र का रहस्यवाद सहज अपनी कुंठाओं को छिपाने का एक वीभत्स प्रयास रहा है।

---

१. विज्ञानभैरव।

तन्त्रशास्त्र के रहस्यवाद को औपनिषदिक रहस्यवाद से भी ऊंचा दर्जा दिलाने का प्रयास किया जाता रहा है और आज भी यह प्रयास रुका नहीं है ।

इस अनोखे रहस्यवाद ने 'ब्रह्मचारी'[१] शब्द का अर्थ ही बदल दिया। मारविजयी बुद्ध और कामदेव को भस्म कर देने वाले योगिराज शिव के द्वारा प्रवर्तित धर्मों में काम के इस अनोखे प्रवेश ने कृष्ण भक्ति-धारा में ही नहीं, राम भक्ति-धारा में भी रसिक सम्प्रदाय को जन्म दे दिया । मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकमंगलकारी स्वरूप की रक्षा का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को दिया जाना चाहिये, अन्यथा राम का यह चरित्र भी उसी तरह से पीछे ढकेल दिया गया होता, जैसा कि भगवान् श्रीकृष्ण का महाभारत और भगवद्गीता में वर्णित स्वरूप हमारी आंखों से ओझल हो गया है । विश्व के उत्कृष्टतम ग्रन्थ महाभारत को घर में रखना अथवा पढ़ना आज महान् अमंगलकारी कार्य मान लिया गया है और गीता का अध्ययन गृहस्थ के लिये निषिद्ध है। इसके स्थान पर भागवत की, भागवत के दशम स्कन्ध की और रासलीला की उत्तरोत्तर प्रतिष्ठा बढ़ गई है और रासलीला के रहस्य को औपनिषदिक रहस्यवाद से भी ऊंचा स्थान दिया गया है । हम कहाँ पहुँच गये हैं ।

स्वर्ग देखने के लोभ में नाक कटा लेना कोई बुद्धिमानी नहीं है । आज हमें एक जगह खड़े होकर देखना है कि आगे किस तरफ जाना है । किसी समय तान्त्रिक धर्म ने भारतीय संस्कृति के विस्तार के लिये स्तुत्य प्रयास किया था, किन्तु आज हम उसकी अच्छाइयों को भुला चुके हैं । समाज ऊंच-नीच, छोटे-बड़े के घेरे में बंटा हुआ है । सन्तों की वाणी का, जिनका कि प्रेरणा-स्रोत मुख्यतः [२]तान्त्रिक वाङ्मय ही रहा है, समाज पर केवल मौखिक प्रभाव है, अर्थात् उसका उपयोग केवल एक-दूसरे को उपदेश देने तक सीमित है । अपनी दैनिक दिनचर्या में उसको उतारने का प्रयास नहीं किया जाता । इसका भी एक मौलिक कारण है । उपनिषद्, गीता या अन्य आध्यात्मिक

---

१. "ओष्ठ्यान्त्यत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते" (तन्त्रा० २६।६८) । ओष्ठ्यान्त्यत्रितयासेवी का तात्पर्य तीन मकारों के सेवन से है ।

२. डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'तन्त्र और सन्त' नामक ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है, किन्तु 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग उन्होंने सीमित अर्थ में किया है । वस्तुतः प्राचीन शैव और वैष्णव आगम भी इसी श्रेणी में आते हैं और सन्तों की वाणी पर इन सबका प्रभाव है ।

ग्रन्थों के उत्कृष्ट उपदेशों का अधिकारी सामान्य मनुष्य को नहीं माना जाता। उनके लिये इन उत्कृष्ट आध्यात्मिक मूल्यों का अनुसरण कर पाना कठिन है, ऐसा मानकर नाना प्रकार के कर्मकाण्डों की सृष्टि कर दी गई है, जैसा कि विज्ञानभैरव के १०वें श्लोक में बताया गया है। ऐहलौकिक जीवन की अपेक्षा पारलौकिक जीवन पर ध्यान अधिक केन्द्रित कर दिया गया है। फलतः सामान्य मनुष्य निकृष्टतम जीवन बिताते हुए भी कुछ कर्मकाण्डों का नियमित आचरण कर धार्मिक बन बैठता है। इस स्थिति को दूर किया जाना चाहिये। विज्ञानभैरव जैसे ग्रन्थ इसमें सहायक हो सकते हैं।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि नट अपने मन से राम-कृष्ण, रावण कंस प्रभृति की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दुःखों की अनुभूति स्वय तटस्थ भाव से करता हुआ भी जैसे दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की सी अनुभूति पैदा करा देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते-करते वह अज्ञान से आवृत हो जाता है और इस तरह से उसकी शक्तियां और स्वरूप संकुचित हो जाते हैं। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। यह स्वरूप की विस्मृति ही इनके यहाँ बन्ध है और स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। इस तरह से इनके मत में बन्ध और मोक्ष की वास्तविक सत्ता नहीं है। इनकी दृष्टि में यह सारा विश्व 'अहम्' का ही विलास है। चित्रकार कागज, कपड़ा या दीवाल पर अपनी कल्पना का चित्र बनाता है। यह शिव ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना आधार के अपने आप में इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता है। अपनी अहन्ता को वह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर देता है और फिर वहीं पर प्रमाता के रूप में इस के पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुंब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है।

शक्तिसंगम तन्त्र में समताष्टक मार्ग का उल्लेख है। इसका परिचय हमने विज्ञानभैरव के पृ० ७८ पर दिया है। सन्तों और भक्तों की परम्परा से और योगवासिष्ठ जैसे ग्रन्थों के माध्यम से यह समता-दृष्टि भारतीय जनमानस में सामान्य रूप से अपना स्थान बनाये हुए है। महात्मा गांधी में इसी दृष्टि का उन्मेष हुआ था। किन्तु आज इस समता-दृष्टि के मूल स्रोत को हमने भुला दिया है। आज का प्रबुद्ध भारतीय इस साम्यवाद की खोज में उस

कस्तूरी मृग की भांति भटक रहा है, जिसको इसका ज्ञान नहीं है कि उस मनमोहक गन्ध का स्वामी वह स्वयं ही है। आज इस बात की आवश्यकता है कि जैसे तत्कालीन सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समन्वय स्थापित कर मानव मात्र के कल्याण के लिये तान्त्रिक धर्म की प्रतिष्ठा की गई थी, उसी तरह से आज भी विश्व के सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समरसता, समन्वय स्थापित कर एक विश्व-धर्म और विश्व-संस्कृति की प्रतिष्ठा की जाय।

भारतीय समाजवाद के प्रवर्तक आचार्य नरेन्द्रदेव ने भारतीय संस्कृति और समाजवाद में सुन्दर समन्वय स्थापित किया था। उनका[१] कहना था कि संस्कृति[२] चित्तभूमि की खेती है। व्यक्तियों के चित्त के साथ-साथ लोक-चित्त के कार्यक्षेत्र का विस्तार आवश्यक है। लोकचित्त का राष्ट्रचित्त में और विश्वचित्त का विश्वसंस्कृति के रूप में विकास अभिप्रेत है। जीवन और संस्कृति दोनों परिवर्तनशील हैं। कालप्रवाह से जीर्ण और अनुपयोगी पुराने विचारों के परित्याग के साथ श्रैणिक नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शों और सिद्धान्तों का बहिष्कार तथा समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा संचित ज्ञान का अनादर अनुचित होगा। हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी संस्कृति का सतर्क और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करें, उसके जीवनपूर्ण तत्त्वों की रक्षा करें और आधुनिक विचारों से उनका सामंजस्य स्थापित कर नव संस्कृति का निर्माण करें। आदान-प्रदान से ही संस्कृतियां संपुष्ट और ऐश्वर्य-मय हो सकती हैं।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा तत्त्व विभिन्न जीवन प्रणालियों में एकता और जीवन के हर क्षेत्र में समन्वय स्थापित करना है। इसकी दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना तथा आचरण की शुद्धता है। अपना ध्यान रखते हुए दूसरे का भी ध्यान रखना इसका मूल मन्त्र है—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'। इसका तीसरा महत्वपूर्ण तत्त्व विश्वभावना है। 'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति,' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसकी शिक्षा है। भारतीय संस्कृति के दो पहलू रहे हैं। एक व्यक्तिवादी तो दूसरा समष्टिवादी,

---

१. प्रोफेसर श्री मुकुटबिहारीलाल के ग्रन्थ 'आचार्य नरेन्द्रदेव : युग और नेतृत्व' से साभार संकलित।

२. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१।२) इस योगसूत्र के अनुसार योगशास्त्र भी एक प्रकार से चित्तभूमि की खेती ही है।

अर्थात् विश्वजनीन। इन्हीं को हम व्यक्तिगत मानस और लोकमानस कह सकते हैं।

व्यष्टि और समष्टि में सामंजस्य युग की मांग है। मानव की उन्नति के लिये व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समष्टि-भावना दोनों आवश्यक हैं। भारतीय विद्वानों द्वारा प्रतिपादित समत्व, कर्मयोग, विश्वभावना, लोकहित तथा शील के विचारों का अर्वाचीन विद्वानों द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीयता, अन्तर-राष्ट्रीयता, लोकतन्त्र, समाजवाद और इतिहास की वैज्ञानिक व्यवस्था से समयोग अपेक्षित है। इसके लिये अपने शास्त्रों के साथ अर्वाचीन विद्वानों के लोकतन्त्र, देशवन्धुत्व, विश्वसहयोग तथा समता-राज्य सम्बन्धी विचारों का भी विवेचनात्मक अध्ययन होना चाहिये। अपनी संस्कृति के कालविपरीत तत्त्वों का परित्याग कर उसके युगानुरूप कल्याणकारी तत्त्वों का संरक्षण और परिवर्धन करना और साथ ही अर्वाचीन विचारकों के हानिकारक सिद्धान्तों और परिपाटियों की यथोचित समीक्षा करते हुए उनके लाभप्रद प्रगतिशील विचारों का परिग्रहण करना युग की मांग है।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा।
न चोद्योगेन बुद्ध्याऽथ रूपद्रव्येण वा पुनः॥

महाभारत शान्तिपर्व में गणराज्य के प्रकरण में कही गई ये दोनों बातें अर्वाचीन विद्वानों को स्वीकार हैं। वे प्रत्येक जाति, कुल और व्यक्ति की समानता को स्वीकार करते हुए उद्योग और बुद्धि की क्षमता की विभिन्नता को स्वीकार करते हैं और चाहते हैं कि क्षमता, कर्तव्यपरायणता और सद्-व्यवहार ही जनविश्वास तथा पदों पर नियुक्तियों का आधार हो। हमारे पूर्वजों ने कहा है कि ज्ञान के समान पवित्र कुछ भी नहीं है (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।) और उसे सब किसी से ग्रहण किया जा सकता है।

हमारे पूर्वजों ने हमारे सामने 'वसुधैव कुटुम्वकम्' का आदर्श प्रस्तुत किया है। इस आदर्श को जीवन में आत्मसात् करना हमारा कर्तव्य है। यदि हम विभिन्न संप्रदायों, प्रजातियों तथा जातियों में विभाजित मानव समाज में भ्रातृत्व का अनुभव कर सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि सम्पूर्ण हिन्दू समाज तथा भारतीय समाज में बन्धुत्व और आत्मीयता का अनुभव न करें। महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है कि देशबन्धुत्व को आत्मसात् किये बिना विश्ववन्धुत्व की उपलब्धि असंभव है। देशबन्धुत्व और समता पर आश्रित

राष्ट्रीयता ही भारतीय गणतन्त्र को संघबद्ध तथा सबल कर सकती है, विभिन्न जातियों, उपजातियों और सम्प्रदायों से सम्बद्ध सज्जनों में सौजन्य की वृद्धि कर सकती है तथा विश्वबन्धुत्व का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

समता पर आधृत संस्कृति ही श्रेष्ठ मानी जा सकती है। तभी विश्व-बन्धुत्व, मानवता और विश्वकल्याण की भावना को बढ़ावा मिल सकता है। निराग्रही समीक्षा तथा सर्जनात्मक समन्वय द्वारा ही यह संभव है। विचार-वैचित्र्य से घबराने की कोई बात नहीं है। विचार-स्वातन्त्र्य चिरकाल से भारतीय संस्कृति का सद्गुण रहा है। भारतीय संस्कृति के विकास में विचार-स्वातन्त्र्य और विचार-विमर्श का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है और इनके द्वारा ही इस समय भी जड़ता और संकीर्णता का परित्याग तथा सर्जनात्मक चिन्तन हमारे लिये संभव हो सकते हैं।

राष्ट्रीयता, अन्तरराष्ट्रीयता, लोकतन्त्र और समाजवाद इस युग की मुख्य मान्यताएं हैं। इन्हें अपनाना, भारतीय संस्कृति में इनका समावेश करना नितान्त आवश्यक है। इस तरह समाजवाद भारतीय सस्कृति के दीर्घकालीन, सर्वजनीन, सजीव मूल्यों तथा तथ्यों का पाश्चात्य संस्कृति के सजीव, प्रगतिशील तत्त्वों तथा वैज्ञानिक उपलब्धियों से समन्वय करता है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में समाजवाद पर आस्था रखने वाले विचारक एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करना चाहते हैं, जिसका मूल प्राचीन सभ्यता में होगा, जिसका रूप-रंग देशी होगा, जिसमें पुरातन सभ्यता के उत्कृष्ट अंग सुरक्षित रहेंगे और साथ-साथ उसमें ऐसे नवीन अंशों का भी समावेश होगा, जो आज जगत् में प्रगतिशील हैं और संसार के सामने एक नवीन आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं। तभी उस विश्व-संस्कृति का निर्माण हो सकेगा, जिसमें कि सभी मनुष्य आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दासता से मुक्त हों, सभी को मौलिक मानवाधिकार प्राप्त हों तथा सबको स्वतन्त्रता और सम्मान के साथ अपने आर्थिक अभ्युदय और सांस्कृतिक उन्नति की सुविधा प्राप्त हो, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र को बराबर की जनतान्त्रिक आजादी हासिल हो, सब अन्तरराष्ट्रीय झगड़े शान्तिमय ढंग से निपटाये जा सकें और सब राष्ट्र पारस्परिक सहयोग के जरिये मानव-कल्याण में वृद्धि करें।

यह खेद की बात है कि भारतीय समाजवादी आन्दोलन आचार्य नरेन्द्रदेव सरीखे मानवतावादी मनीषी के उक्त विचारों का अनुवर्तन न कर सका।

महात्मा गांधी और आचार्य नरेन्द्रदेव के द्वारा स्थापित मूल्यों का अनुवर्तन न कर पाने के कारण ही भारतीय गणतन्त्र ने दलतन्त्र का रूप ले लिया है। आज भारतीय राजनीतिज्ञों की देश की अपेक्षा अपने दल के प्रति अधिक गहरी भक्ति है। दूसरी तरफ तान्त्रिक धर्म की रहस्यवादी मान्यताओं के कारण धर्म और मोक्ष के क्षेत्र में भी जब छद्म वेश में अर्थ और काम ने प्रवेश पा लिया, तो सामान्य नागरिक के सामने नैतिकता का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है। आभिजात्यवाद से वह दबा हुआ है। 'समरथ को नहि दोष गुसाईं' की घुट्टी उसे पिलाई गई है। वह उत्पीडक को दोष न देकर अपने ही पूर्व जन्म के कृत्यों को कोसता है। हमने 'शोचनीया भारतीया नैतिकता' शीर्षक संस्कृत निबन्ध में भारतीय जनमानस की इस कमजोरी पर प्रकाश डाला था कि उसकी अन्याय के प्रतीकार की शक्ति अत्यन्त प्रसुप्त है।

योगशास्त्र का स्वरूप बतलाते हुए हमने उसको धर्म-निरपेक्ष शास्त्र बताया है। आज से २५ वर्ष पहले महावीर जयन्ती के अवसर पर आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने भाषण में इस बात का उल्लेख किया था और सम्पूर्ण भारतीय योगशास्त्र का एक तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करने के लिये विद्वानों का आह्वान किया था। यह कार्य अब भी जहाँ का तहाँ पड़ा हुआ है। प्रत्येक भारतीय दर्शन की अपनी योगविधि है और अपने चरम लक्ष्य तक पहुंचाने के लिए उसका आचरण आवश्यक माना गया है। इन योग-विधियों की पृथक् सत्ता रहते हुए भी इनमें अद्भुत साम्य है। बौद्ध तन्त्र की योगविधि को ही लें। वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान के नाम से इसके तीन भेद किये गये हैं। सहजयान को बौद्ध सिद्धों की अनोखी देन माना जाता है। वस्तुतः योगवासिष्ठ, विज्ञानभैरव सरीखे ग्रन्थों को देखने से यह सारा कल्पनाओं का महल ढह जाता है। वैष्णव, शैव, शाक्त प्रायः सभी तान्त्रिक धाराओं में वज्रयान, कालचक्रयान, और सहजयान के सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन मिलता है। जैन योगशास्त्र[1] में प्रतिपादित पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत ध्यान-विधि कौलदर्शन में भी स्वीकृत हैं और मालिनी-विजय, तन्त्रालोक जैसे ग्रन्थों में इनका विस्तार से वर्णन मिलता है।

इन पक्तियों के लेखक का यह स्पष्ट विचार है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि के कल्पित काल

---

१. द्रष्टव्य—आचार्य शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव, ३४-३७ प्रकरण।

विभागों में बांटकर किया गया अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिये और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभाग सत्य की खोज में बाधक नहीं होने चाहिये। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ प्रविष्ट हो गई हैं।

अन्त में सत्य की विजय होती है, यह एक सही भारतीय अवधारणा है। कुछ लोगों का कहना है कि सत्य की नहीं, शक्ति की विजय होती है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो सत्य और शक्ति में कोई विरोधाभास नहीं है। लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि पाशविक शक्तियाँ सदा सत्य का गला घोटे रहती हैं। किन्तु पीडित व्यक्ति घबराकर उस पाशविक शक्ति के सामने घुटने नहीं टेकता, तो उसके भीतर धीरे-धीरे दिव्य शक्ति का आलोक फैलने लगता है। यह शक्ति कहीं से आती नहीं, यह उसका अपना ही स्वरूप है। तन्त्रशास्त्र का उद्घोष है कि अपनी आत्मा ही अपना इष्टदेव है। इस पवित्र आध्यात्मिक शक्ति की ही आराधना का तन्त्रशास्त्र उपदेश करते हैं और योगशास्त्र की सहज योगविधि में अपने इस स्वरूप का साक्षात्कार करने का विधान है। इसी दिव्य शक्ति को जगाने का योगी अरविन्द और श्रद्धेय पं० गोपीनाथ कविराज उपदेश करते हैं। इस दिव्य शक्ति का आविर्भाव होने पर ही जगत की पाशविक शक्तियाँ दब सकती हैं।

गांधीवादी दर्शन अथवा समाजवादी दर्शन में किसी योगविधि को नहीं अपनाया गया है। इसीलिये आज यम दिग्भ्रान्त है। यह (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) और नियम (शौच[1], सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान) योगविधि के अत्यावश्यक अंग हैं। नये-नये भूदान जैसे कर्मकाण्डों की सृष्टि करने से यह कार्य पूरा नहीं होगा। आज मानव जाति, विशेष कर भारतीय जनता तन और मन से बीमार है। योगशास्त्र से ये बीमारियाँ दूर हो सकती हैं। यह तब होगा, जब कि योगशास्त्र के सही स्वरूप का चुनाव किया जाय। तभी व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता की, सीमित रूप में ही सही ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की भी भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा हो सकती है।

---

१. द्रष्टव्य—आचार्य शुभचन्द्र कृत ज्ञानार्णव, ३४-३७ प्रकरण।

योगी अमृतानन्द

अलंकारसंग्रह, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अलंकार शास्त्र का एक ग्रन्थ है। पूरा ग्रन्थ ११ परिच्छेदों में विभक्त है। इसका पहला संस्करण अंग्रेजी अनुवाद के साथ सन् १८८७ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ, ऐसा एम्० 'कृष्णमाचार्य के इतिहास से, तथा म० म० पी० वी०[2] काणे के ग्रन्थ से मालूम होता है। कलकत्ता संस्करण में प्रारम्भ के केवल पाँच परिच्छेद ही प्रकाशित हुए थे। वाद में यह पूरा ग्रन्थ सन् १९४७ में अडचार पुस्तकालय, मद्रास से तथा सन् १९५० में तिरुपति[3] के वेंकटेश्वर शोध संस्थान से प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के सम्वन्ध में कुछ न कह, हमको यहाँ पर केवल ग्रन्थकार के विषय में ही विचार करना है।

तन्त्रशास्त्र में अमृतानन्द योगी योगिनीहृदय की दीपिका नाम की टीका के कर्ता के रूप में प्रसिद्ध हैं। ये कामकलाविलासकार पुण्यानन्द के शिष्य थे। अलंकारसंग्रह के तिरुपति संस्करण के संपादक पण्डित बालकृष्ण मूर्ति के मत से अलंकारसंग्रह के कर्ता से ये भिन्न हैं। इस संस्करण की भूमिका (पृ० ६) में बताया गया है कि इसी नाम के दो अन्य लेखक हैं, योगिनीहृदयदीपिकाकार

---

१. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७६७ फुट नोट।

२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, सन् १९६१, पृ० ३९९

३. मद्रास और तिरुपति जैसे अति समीप के स्थानों में भी एक ही ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये एक ही समय अलग अलग प्रयास हो रहे थे। इस प्रकार के दोहरे प्रयासों को रोकने के लिये एक केन्द्रीय संघटन की अत्यन्त आवश्यकता है। भारत सरकार, भारतीय विश्वविद्यालय और अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् जैसे संघटनों को इस ओर अब तो अविलम्ब ध्यान देना चाहिये।

और दूसरे[1] षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोहकार। इन दोनों में से किसी ने अलंकारसंग्रह को उद्धृत नहीं किया है और न मन्व भूप को ही, जो कि अलंकारसंग्रहकार अमृतानन्द के आश्रयदाता थे। इसलिये ये दोनों अलंकारसंग्रहकार से भिन्न ही हैं।

इसके विपरीत अडयार संस्करण के संपादक श्री वे० कृष्णमाचार्य के मत से (संस्कृत भूमिका, पृ० १५-१६) योगिनीहृदयदीपिकाकार और अलंकार-संग्रहकार अभिन्न व्यक्ति हैं। उनका कहना है कि इन दोनों ग्रन्थों में यद्यपि परस्पर एक दूसरे के वचनों को उद्धृत नहीं किया गया है, तो भी इनकी अभिन्नता के प्रतिपादक कुछ प्रमाण मिलते हैं। ये दोनों ही शैव और शाक्त हैं। अलंकारसंग्रह के प्रारम्भ में—

जगद्वैचित्र्यजननजागरूकपदद्वयम् ।
अवियोगरसाभिज्ञमाद्यं मिथुनमाश्रये ॥

यह मंगल श्लोक है। इसमें अर्धनारीश्वर को नमस्कार किया गया है। अलंकारसंग्रह के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में—"अमृतानन्दयोगिप्रवरविरचिते-ऽलङ्कारसंग्रहे" इस प्रकार का पुष्पिका वाक्य दिया गया है। योगिनीहृदय-दीपिका में—"अमृतानन्दयोगिप्रवरविरचितायां योगिनीहृदयदीपिकायाम्" यह पुष्पिका-वाक्य मिलता है। इन वाक्यों से इन दोनों ग्रन्थों का कर्ता एक ही व्यक्ति है, यह स्पष्ट होता है।

हमारी दृष्टि में यही मत उचित है। उक्त मंगल श्लोक के "आद्यं मिथुनम्" ये दो शब्द सारी गुत्थी को सुलझा देते हैं। त्रिपुरा-सम्प्रदाय के इस पारिभाषिक शब्द से पौराणिक अर्धनारीश्वर शिव का ग्रहण न होकर दिव्यौघ परम्परा के चार गुरु-युगलों में से प्रथम—कामेश्वर कामेश्वरी युगल—का

---

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह के सभी श्लोक सौभाग्यसुधोदय के प्रथम प्रपंच से लिये गये हैं। नित्याषोडशिकार्णव के वाराणसी संस्करण के परिशिष्ट में यह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुका है। वहाँ पर ये श्लोक आनुपूर्वी से उपलब्ध हैं। योगिनीहृदयदीपिका में स्वयं ग्रन्थकार ने इसको अपनी ही कृति माना है। इस विषय में हम योगिनीहृदयदीपिका के द्वितीय संस्करण के अनुप्रास्ताविक में तथा नित्याषोडशिकार्णव (वाराणसी संस्करण) की भूमिका में लिख चुके हैं। इस प्रकार षट्त्रिंशत्तत्त्व-संदोहकार और योगिनीहृदयदीपिकाकार एक ही व्यक्ति हैं, भिन्न नहीं।

बोध होता है। 'आद्यं मिथुनम्' शब्द से अलंकारसंग्रहकार को यही अभीष्ट है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार त्रिपुरा संप्रदाय का अनुवर्ती है और वह निश्चय ही योगिनीहृदयदीपिकाकार से अभिन्न है। अलंकारसंग्रहकार ने—

अवोचदमृतानन्दमादरेण कवीश्वरम् (१।५)।
मया तत्प्रार्थितेनेत्थममृतानन्दयोगिना (१।८)।

इन वाक्यों में अपने को कवीश्वर और योगी बताया है। यह तन्त्रशास्त्र की परम्परा के अनुकूल है। महामाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त इस परम्परा के मुकुटमणि हैं जिन्होंने साहित्य और तन्त्रशास्त्र पर सामान रूप से उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थों की रचना की है। इसी प्रकार हस्तिमल्ल, जिनका कि वर्णन आगे किया जायगा, कवीश्वर और योगी दोनों थे। उसी परम्परा में अमृतानन्द भी आते हैं। इस प्रकार उक्त दोनों ग्रन्थों के कर्ता की अभिन्नता के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता।

योगिनीहृदयदीपिकाकार अमृतानन्द योगी का समय अभी तक ठीक से निश्चित नहीं किया जा सका है। अलंकारसंग्रह की सहायता से न केवल अमृतानन्द की, अपितु ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द और अर्थरत्नावलीकार विद्यानन्द की, नित्याषोडशिकार्णव की भूमिका में हमारे द्वारा पूर्व निर्धारित, समय की सीमा में भी हम कुछ संकोच कर सकेंगे। इसके साथ ही ऋजुविमर्शिनी में उद्धृत त्रिपुरासारसमुच्चयकार नागभट्ट के समय पर भी नये सिरे से विचार हो सकेगा। नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को पञ्चस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान धर्माचार्य विरचित लघुस्तव के जैन टीकाकार सोमतिलक[1]

---

१. इस ग्रंथ की सरस्वती भवन में वर्तमान २३६१६ संख्यक मातृका के तीसरे पत्र में—"कविहस्तिमल्लोक्तत्रिपुरासारसमुच्चये" इस प्रकार अवतरणिका-वाक्य देकर—"कान्तान्तवान्ताकुलवामनेत्रान्वित" इत्यादिक श्लोक उद्धृत है। यह श्लोक कलकत्ता से प्रकाशित नागभट्ट रचित त्रिपुरासारसमुच्चय (२।२५) में उपलब्ध होता है। अतः यह मानना उचित ही होगा कि नागभट्ट और कवि हस्तिमल्ल एक ही व्यक्ति हैं। सोमतिलक सूरि की यह टीका अब राजस्थान पुरातत्त्व ग्रंथमाला में मुनि जिनविजय जी के द्वारा संपादित होकर त्रिपुराभारतीलघुस्तव के नाम से जोधपुर से प्रकाशित हो चुकी है। इस टीका का रचना काल १३९७ वि० संवत् है। इसमें अन्यत्र भी त्रिपुरासारसमुच्चय के श्लोक उद्धृत हैं।

सूरि ने कवि हस्तिमल्ल की कृति के रूप में उद्धृत किया है। कवि हस्तिमल्ल एक जैन लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। अतः प्रसंगवश यहाँ पर कवि हस्तिमल्ल और धर्माचार्य के विषय में भी कुछ कहा जायगा।

अलंकारसंग्रह की रचना कविश्वर अमृतानन्द योगी ने भक्ति भूपति के पुत्र मन्न, मन्व, या मन्म भूपति के कहने से की थी। इस ग्रन्थ के तिरुपति संस्करण की भूमिका (पृ० ४-६) में मन्म भूपति के समय के सम्बन्ध में निम्न विचार प्रकट किये गये हैं—

(क) श्री एम०[1] कृष्णमाचार्य ने मन्व भूप का समय १२५० ई० के आस पास माना है। यही समय अमृतानन्द योगी का भी माना जाना चाहिये।

(ख) १४०० ई० के पहले ये अवश्य हो चुके थे। अलंकारशास्त्र के ग्रंथ प्रबन्धदीपिका अथवा लक्षणदीपिका के कर्ता गौरणार्य ने अपने ग्रन्थ में अलंकार-संग्रह को उद्धृत किया है। ये सिंग भूपाल के मन्त्री थे। सिंग भूपाल का समय १४०० ई० के आस-पास माना जाता है। इस प्रकार अमृतानन्द अवश्य ही १४०० ई० के पूर्व हो चुके थे।

(ग) आन्ध्रप्रदेश के कृष्णा जिले में मन्व भूप का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। इसका समय ई० १३ वीं शताब्दी के आस-पास माना गया है। शिलालेख में निर्दिष्ट मन्व भूप अमृतानन्द के द्वारा निर्दिष्ट भूपति से अभिन्न है या भिन्न? इसको जानने का कोई उपाय नहीं है, किन्तु यदि इनको एक मान लिया जाय तो कहना होगा कि अमृतानन्द ई० १३वीं शताब्दी में अवश्य हो चुके थे।

इस सम्बन्ध में अडचार संस्करण की संस्कृत और अंग्रेजी भूमिका में दो प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं। संस्कृत भूमिका (पृ० ११-१४) में बताया गया है कि—

(क) ऐतिहासिकों के मत से यह मन्म भूपाल, जो कि मन्व नाम से प्रसिद्ध था, त्रैलिंग के राजाओं में प्रसिद्ध मन्म गण्डगोपाल है। जम्बुकेश्वर[2] क्षेत्र के

---

१. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७६७।

२. दक्षिण भारत में शिव के पांच भूत-लिंग प्रसिद्ध हैं—
"मृल्लिङ्गरूपमभजत् शिव आम्रनाथः, अब्लिङ्गरूपमभजत् स तु जम्बुकेशः। लिङ्गं च तैजसमभूत् त्वरुणाचलेशः, श्रीकालहस्त्यधिपतिः खलु वायुलिङ्गम्॥ आकाशलिङ्गमभवत् स चिदम्बरेशः।" (कालहस्तीश्वरसुप्रभातम्, १८-१९ श्लोक) यह जम्बुकेश्वर क्षेत्र आजकल त्रिचनापल्ली के नाम से प्रसिद्ध है। श्रीरंगम् का प्रसिद्ध वैष्णव मन्दिर भी यहीं है।

देवालय में उपलब्ध प्रतापरुद्रदेव के शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि यह मन्म गण्डगोपालदेव प्रतापरुद्र का कृपापात्र था। १२९७ ई० के लिखे गये आन्ध्रप्रदेश के नरसरावपेट्ट शासन से यह ज्ञात होता है कि नल्लसिद्धि का ज्येष्ठ पुत्र मन्म गण्डगोपालदेव प्रतापरुद्र के अधीन था और कांची पर शासन करता था। इस शिलालेख से मन्म गण्डगोपालदेव का समय १२९७ ई० तक आता है। इसी प्रकार प्रतापरुद्रदेव का समय भी १२९६ ई० से १२६६ ई० के बीच माना जाता है।

(ख) विशिष्टाद्वैत के प्रसिद्ध आचार्य वेंकटनाथ का समय १२९६ ई० से १३६९ ई० माना गया है। इन्होंने संकल्पसूर्योदय[1] की प्रस्तावना में—

> न तच्छास्त्रं न सा विद्या न तच्छिल्पं न ताः कलाः।
> नासौ योगो न तज्ज्ञानं नाटके यन्न दृश्यते॥

इस श्लोक को उद्धृत किया है। संकल्पसूर्योदय के टीकाकार अहोबल ने इसको अमृतानन्द का श्लोक माना है। वेंकटनाथ कांची के ही निवासी थे। इनके समय तक राजा गण्डगोपाल की बहुत ख्याति थी। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रायः १२३० ई० के आस-पास गण्डगोपाल की राजसभा में अमृतानन्द विद्यमान थे और यहीं पर इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की।

(ग) यहाँ पर एक बात विचारणीय है—अलंकारसंग्रह में मन्म भूपाल का नाम बीसियों बार आया है, कहीं पर भी उसको गण्डगोपालदेव के नाम से सम्बोधित नहीं किया गया। इससे यह मानना पड़ेगा कि केवल मन्म नाम का राजा ही अमृतानन्द का प्रेरक था, न कि गण्डगोपालदेव। बटाटवी शिलालेख में केवल मन्म नाम के राजा का भी उल्लेख मिलता है, जो कि गण्डगोपालदेव का ही वंशज था। इस शिलालेख की तिथि १२०७ ई० है। इससे भी मन्म भूपति का समय १२०७ ई० से १२५० ई० के बीच में सिद्ध होता है।

अडयार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका के लेखक डा० कुन्हन् राज का (पृ० ३९-४३) कहना है कि संकल्पसूर्योदय में उद्धृत उक्त श्लोक भरत के नाट्यशास्त्र में भी उपलब्ध है। इसलिये इससे अमृतानन्द के समय के निर्धारण में कोई सहायता नहीं मिल सकती। केवल भक्ति भूपाल शब्द से ही ग्रंथकार के समय-निर्धारण में सहायता मिल सकती है। उपलब्ध प्रमाणों के

१. अडयार लाइब्रेरी संस्करण, पृ० ५१

आधार पर अब तक दक्षिण भारत में केवल एक भक्ति भूपाल का पता चल सका है। इस नृपति से सम्बद्ध कुछ शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। एक ताम्रपत्र में भक्तिराज को चोल वंश का बताया गया है, जो कि आन्ध्र में आ बसे थे। इस ताम्रलेख की तिथि १३५५-५६ ई० है। १३८८ ई० और १४१६ ई० के अन्नदेव के ताम्रलेखों में भी भक्तिराज का उल्लेख मिलता है। अन्नदेव भक्तिराज का द्वितीय पुत्र था और १३६६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इतिहास में केवल यही एक भक्तिराज अब तक उपलब्ध हुआ है। इसके साथ कठिनाई यह है कि यहाँ पर कहीं भी मन्म का उल्लेख नहीं मिलता। भक्तिराज के एक और पुत्र था, जिसकी कि मृत्यु भक्तिराज के सामने ही हो गई थी। प्रथम पुत्र की मृत्यु हो जाने से ही इसका द्वितीय पुत्र अन्नदेव राजा हुआ। हो सकता है कि जब भक्तिराज जीवित था, तभी राजकुमार मन्म के कहने से अमृतानन्द ने इस ग्रन्थ की रचना की। इस परिस्थिति में यह मानना पड़ेगा कि भक्तिराज की मृत्यु तिथि (१३६६ ई०) के पूर्व इस ग्रन्थ की रचना हो चुकी थी।

इस प्रकार हम यहाँ देखते हैं कि अलंकारसंग्रह के तिरुपति संस्करण की संस्कृत भूमिका में अमृतानन्द का समय ई० १३वीं शताब्दी के मध्य में माना गया है, जब कि अड्यार संस्करण की अंग्रेजी भूमिका में इसका स्थितिकाल ई० १४वीं शताब्दी माना है। इस सम्बन्ध में किसी निश्चय तक पहुंचने के लिये हम यहाँ पर पहले नागभट्ट, धर्माचार्य और शिवानन्द के समय में विचार करना चाहेंगे।

अमृतानन्द ने योगिनीहृदयदीपिका (पृ० ६८) में शिवानन्द की सुभगोदयवासना को उद्धृत किया है और शिवानन्द[1] ने नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय को लघुस्तव के व्याख्याता जैनाचार्य सोमतिलक सूरि ने त्रिपुरासारसमुच्चय को कवि हस्तिमल्ल की कृति माना है। इस प्रकार नागभट्ट और कवि हस्तिमल्ल अभिन्न व्यक्ति हैं। जैन इतिहासकार श्री नाथूराम प्रेमी[2] ने कवि हस्तिमल्ल के लिये लिखा है—

"रूपक या नाटक उनके सिवाय और किसी दिगम्बर जैन कवि ने नहीं लिखे हैं। वह गोविन्द भट्ट के पुत्र तथा वत्सगोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। स्वामी समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र को सुनकर गोविन्द भट्ट जैन-धर्म में दीक्षित

---

१. ऋजुविमर्शिनी, पृ० ११७
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २६०-२६६

हो गये थे। हस्तिमल्ल कर्णाटक प्रदेश के शासक पांडचराज (१२९० ई०) के आश्रित कवि थे। कवि ने कहीं भी इस पांडच महीश्वर का नामोल्लेख नहीं किया है। हस्तिमल्ल का असली नाम क्या था, इसका भी पता नहीं चलता। यह नाम तो उन्हें एक मत्त हाथी को बस में करने के उपलक्ष्य में पांडच राजा के द्वारा प्राप्त हुआ था। इस हस्तियुद्ध का उल्लेख कवि ने अपने विक्रान्त-कौरव के अतिरिक्त सुभद्राहरण[1] नाटक में भी किया है और साथ ही यह भी वतलाया है कि कोई धूर्त जैन मुनि का रूप धारण करके आया था और उसको भी हस्तिमल्ल ने परास्त कर दिया था। कवि हस्तिमल्ल के चार नाटक उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं—१. विक्रान्तकौरव, २. मैथिलीकल्याण, ३. अञ्जनापवनंजय और ४. सुभद्राहरण। ये सभी नाटक माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त उदयराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर नामक अन्य चार नाटकों के रचयिता भी हस्तिमल्ल को ही वताया[2] गया है।"

श्रीनाथूराम प्रेमी जी ने कवि हस्तिमल्ल का उपर्युक्त परिचय उनके ग्रन्थों के आधार पर लिखा है। हस्तिमल्ल ने स्वयं अपने को वत्सगोत्रीय[3] ब्राह्मण माना है। विक्रान्तकौरव के अन्त में कवि लिखता है—

संवित्प्रकाशकौटस्थ्यमयीं मायातिलङ्घिनीम्।
अपवर्गस्य पदवीं त्रयीमाराधयामहे ।। (६।५८, पृ० १६२)

शाक्त तन्त्रों में परा संवित् को ही परब्रह्म माना गया है। कवि ने यहाँ पर त्रयी को घनीभूत संवित्प्रकाश मानकर उसके आराधक के रूप में स्वयं

---

१. सम्यक्त्व सुपरीक्षितं मदगजे मुक्ते सरण्यापुरे
चास्मिन् पाण्डचमहीश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागतम्।
शैलूषं जिनमुद्रधारिणमपास्यासौ मदध्वंसिना
श्लोकेनापि मदेभमल्ल इति य प्रख्यातवान् सूरिभिः ।।
यह श्लोक सुभद्रा नाटिका अथवा हस्तिमल्ल के प्रकाशित किसी भी नाटक में उपलब्ध नहीं है। विक्रान्तकौरव तथा मैथिलीकल्याण की संस्कृत भूमिका में यह श्लोक अय्यपार्य के जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय का वताया गया है।

२. आफ्रेक्ट का कैटलागस कैटलागरम्, पृ० ७६५ द्रष्टव्य।

३. विक्रान्तकौरव, १।४०, पृ० २०।

को उपस्थित किया है। कवि अंजनापवनंजय में भरत मुनि और मैथिली-कल्याण में दशरथतनय राम को प्रणाम करता है, साथ ही विक्रान्तकौरव तथा सुभद्रानाटिका के प्रारम्भ में आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव को। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय त्रिपुरासम्प्रदाय का जैन-धर्म के साथ निकट[1] का सम्पर्क रहा है। हस्तिमल्ल का उदाहरण तो प्रस्तुत ही है। लघुस्तव के जैन व्याख्याता सोमतिलक सूरि का ऊपर उल्लेख किया गया है। अमृतानन्द योगी के आश्रयदाता राजा मन्म के लिये भी अलंकारसंग्रह (१।३) में 'शिवपादाब्ज-षट्पद' के स्थान पर 'जिनपादाब्जषट्पदः' इस पाठान्तर का उल्लेख तिरुपति संस्करण में मिलता है। इसी प्रकार जैन धर्मावलम्बी प्रभाचन्द्राचार्य की कृति प्रभावकचरित में धर्म पण्डित की चर्चा मिलती है। ये लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य से अभिन्न प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ के पृ० १४६-१५० में धर्म पण्डित के लिये लिखा गया है कि ये लाट देश के नर्मदा तटवर्ती भृगुकच्छ प्रदेश के रहने वाले थे। इनके पिता का नाम सूरिदेव था, जो कि वेद और वेदांग में पारंगत ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम सावित्री था। धर्म और शर्म नाम के दो भाई थे और इनके गोमती नाम की एक बहिन थी। इनकी क्षेत्रपाल की उपासना और योगिनीदर्शन आदि का भी यहाँ वर्णन मिलता है। यहाँ इनके धारापुरी जाने तथा वहाँ पर राजा भोज के दरबार में काव्य-निर्माण करने और विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करने की भी चर्चा है। यहाँ धर्म का सिद्ध सारस्वत कवि के रूप में बार-बार उल्लेख किया गया है। राजस्थान पुरातत्त्व ग्रन्थमाला प्रकाशित त्रिपुराभारतीलघुस्तव के अन्त में सिद्ध सारस्वत की कृति मातंगी स्तोत्र भी प्रकाशित है। क्या सिद्ध सारस्वत धर्माचार्य का ही उपनाम है ?

हमने अन्यत्र[2] सिद्ध किया है कि पंचस्तवी के रचयिता धर्माचार्य ही हैं। सकलजननीस्तव के टीकाकार पण्डित हरभट्ट[3] शास्त्री भी इसी मत के हैं। पंचस्तवी के अन्तर्गत विद्यमान अम्बास्तव का अठारहवाँ श्लोक (लक्ष्मीवशी-

---

१. त्रिपुराभारतीलघुस्तव की भूमिका में जैन मुनि जिनविजय जी लिखते हैं—"इस लघुस्तुति का प्रचार जैन सम्प्रदाय में भी प्राचीनकाल से बहुत अधिक रूप में प्रचलित रहा है" (पृ० २)।

२. सारस्वती सुषमा, वर्ष २०, अंक २, पृ० १३-२६

३. "पञ्चस्तव्यां व्यधात् श्रीमद्धर्माचार्यकृताविमम्" (पृ० १७२)।

करण) भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण में[1] उद्धृत है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रभावकचरित में वर्णित धर्म पण्डित ही भृगुकच्छ से आकर यहाँ बस गये थे और सम्भवत: यहाँ पर इन्होंने पंचस्तवी की रचना की। लघुस्तुति के कर्ता धर्माचार्य को त्रिपुरासम्प्रदाय के हादिमत की सिद्धौघ परम्परा में द्वितीय स्थान प्राप्त है। सरस्वतीकण्ठाभरण का रचनाकाल म० म० पी० वी०[2] काणे ने १०३०-१०५० ई० माना है। इसी के आसपास पंचस्तवी का रचनाकाल भी माना जा सकता है।

धर्माचार्य के बाद हादिमत में सिद्धौघ परम्परा के दो गुरु तथा मानवौघ परम्परा के सात गुरुओं के बाद ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द की स्थिति है। वंश परम्परा के समान गुरुपरम्परा में भी प्रत्येक पीढ़ी के लिये यदि २५ वर्ष का समय निर्धारित किया जाय तो धर्माचार्य और भोजदेव के लगभग २२५ वर्ष बाद ई० १३वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में शिवानन्द की स्थिति निश्चित होती है। ऊपर १२९० ई० के आसपास कवि हस्तिमल्ल[3] का समय बताया गया है। इस प्रकार कवि हस्तिमल्ल अथवा नागभट्ट को शिवानन्द का वृद्ध समसामयिक माना जाय तो कोई विरोध प्रतीत नहीं होता।

अमृतानन्द ने सौभाग्यसुधोदय के अन्त में हादिमत की मानवौघ गुरु-परम्परा की समाप्ति के बाद पाँचवीं पीढ़ी में अपनी स्थिति बतलायी है। इस क्रम में उपर्युक्त नियम के अनुसार ई० १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अमृतानन्द की स्थिति आती है, जो कि डा० कुन्हन राज[4] के द्वारा निर्धारित तिथि के आसपास ही पड़ती है। डा० कुन्हन राज ने संभावना प्रकट की है कि १३६६ ई० के पहले अलकारसंग्रह का रचनाकाल होना चाहिये। इस अवस्था में संकल्पसूर्योदय में उद्धृत पद्य को टीकाकार के प्रमाण पर अलंकारसंग्रह का मानने में भी कोई विरोध प्रतीत नहीं होता और इससे भी अमृतानन्द के समय के निर्धारण में सहायता ही मिलती है। अमृतानन्द और वेंकटनाथ देशिका को समसामयिक और एक दूसरे से परिचित माना जा सकता है। संभवत: ये एक ही स्थान के अथवा बहुत समीप के निवासी रहे होंगे।

---

१. निर्णयसागर प्रेस, द्वितीय संस्करण, पृ० ७१३-७१४
२. हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स, तृतीय संस्करण, पृ० २६१
३. अंजनापवनंजय और सुभद्रा नाटिका के संपादक प्रो० माधव वासुदेव पटवर्धन ने इनका समय ९ से १३ वीं शताब्दी के बीच माना है (पृ० १२-१४)।
४. अलंकारसंग्रह, अंग्रेजी भूमिका, पृ० ४३

संकल्पसूर्योदय के टीकाकार अहोबल स्वयं दाक्षिणात्य थे। वेंकटनाथ और इनके बीच का समय कोई बहुत लम्बा नहीं है। इसलिये टीकाकार के वचन को असंगत मानने में कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार ई० १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही अमृतानन्द की स्थिति मानना युक्तिसंगत होगा। ई० १३वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अमृतानन्द योगी की स्थिति नहीं मानी जा सकती, क्योंकि जैसा कि ऊपर बताया गया है, अमृतानन्द ने शिवानन्द की सुभगोदयवासना आदि ग्रन्थों के उद्धरण योगिनीहृदयदीपिका में दिये हैं और शिवानन्द ने नागभट्ट के त्रिपुरासारसमुच्चय के पद्यों को उद्धृत किया है। यह नागभट्ट ही कवि हस्तिमल्ल के नाम से जैन साहित्य में प्रसिद्ध हैं और उनका समय ई० १३ वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में माना जाता है।

शिवानन्द के प्रशिष्य महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द की स्थिति शिवानन्द मुनि और अमृतानन्द योगी के बीच में किसी समय माननी होगी। ये चोलदेश के निवासी थे। धाराधीश भोज के लाटदेशीय राजकवि धर्माचार्य की कृति पंचस्तवी, महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी तथा अमृतानन्द योगी के षट्त्रिंशत्तत्त्वसंदोह, योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों का काश्मीरी साहित्य में आदर के साथ उल्लेख मिलता है और बड़ी संख्या में इनकी मातृकाएँ वहाँ उपलब्ध हैं। इसी प्रकार इन ग्रन्थों पर काश्मीरी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। आ ागमन की असुविधा के उस युग में ज्ञान के आदान-प्रदान की इस प्रणाली की जानकारी प्राप्त कर सकना एक कठिन कार्य होते हुए भी अनुसन्धान प्रेमियों के लिए एक मनोरंजन का विषय बन सकती है। भारतीय इ िहास में विद्वान् और विद्यानुरागी राजवंशों की राजधानियों के अतिरिक्त काशी और कश्मीर के समान ही बिहार पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडु आदि प्रदेशों में अनेक विद्यापीठ ज्ञान की उपासना में निरत थे। उनका आधुनिक विश्वविद्यालयों के समान ही सम्मान था। इनमें से कुछ विद्यापीठों में अनेक शताब्दियों तक भारतीय वाङ्मय की कुछ विशेष शाखाओं का अध्ययन निरन्तर आगे बढ़ता रहा है। आजकल राजनीति प्रधान इतिहास लेखन का ही बोलबाला है। यदि भारत के साहित्यिक इतिहास के लेखन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो तो विभिन्न शास्त्रों के विकास की परम्परा का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। इस दृष्टि से लिखा गया इतिहास भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के क्रमिक विकास के कुछ अज्ञात पृष्ठों को खोल सकेगा।

आगम और तन्त्रशास्त्र की सृष्टि प्रक्रिया

अहिर्बुध्न्य संहिता पांचरात्र आगम का एक विशिष्ट ग्रन्थ है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् श्राडर ने सन् १९१६ में इसका सम्पादन किया था और इस पर विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका लिखी थी। इस संहिता के पांचवें और छठे अध्याय में शुद्ध और शुद्धेतर के नाम से दो प्रकार की सृष्टि का वर्णन किया गया है।

१. वैष्णवागम सम्मत सृष्टि प्रक्रिया

षाड्गुण्य की स्तिमितावस्था यहाँ नारायण अथवा परब्रह्म के नाम से कही गयी है। ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य और तेज इन छः गुणों के समुदाय को षाड्गुण्य कहते हैं। परब्रह्म स्वरूप नारायण में यह छहों गुण स्तिमित, शान्त और प्रबुद्ध अवस्था में रहते हैं निश्चेष्ट रहते हैं। उस परब्रह्म नारायण का ज्ञान अपना ही स्वरूप है और शक्ति प्रभृति पांच उस ज्ञान (चिति) स्वरूप ब्रह्म के गुण हैं। इस षाड्गुण्य परब्रह्म नारायण की शक्ति लक्ष्मी है। चन्द्रमा की चांदनी की तरह यह उससे कभी अलग नहीं होती। शक्ति से परिवृंहित इस षाड्गुण्य ब्रह्म में यह संकल्प उठता है कि एक से मैं अनेक हो जाऊं। तब वे निश्चेष्ट गुण सचेष्ट होने उगते हैं, उनमें स्पन्दन होने लगता है। इसी को गुणों का उन्मेष कहते हैं। इसमें नारायण की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति ही कारण है भगवान का यह स्वतन्त्र, स्वच्छन्द, सकल्प सुदर्शन के नाम से इस शास्त्र में परिभाषित है। इन गुणों का उन्मेष होने से प्रथमतः व्यूह, व्यूहान्तर और विभव के रूप में शुद्ध सृष्टि का आविर्भाव होता है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ये चार व्यूह हैं। वासुदेव में उक्त छहों गुण उन्मेषावस्था में रहते हैं, किन्तु संकर्षण में ज्ञान और बल, प्रद्युम्न में वीर्य और ऐश्वर्य तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज गुण उन्मेषावस्था में तथा बाकी गुण प्रसुप्त रहते हैं। व्यूहान्तरों की संख्या बहार है। प्रत्येक व्यूह से तीन-तीन व्यूहांतरों का अविर्भाव होता है। विभवावतारों की संख्या ३९

है। इनका विस्तृत वर्णन सात्वत संहिता के बारहवें परिच्छेद में मिलता है। इनको शुद्ध सृष्टि इसलिए कहा जाता है कि इनका सहारा लेकर योगी भव-सागर से तर जाते हैं।

शुद्धेतर सृष्टि में परम व्योम, पुरुष, माया, नियति, काम और त्रिगुण (सत्व, रज और तम) का समावेश किया गया है। आगे की सृष्टि प्रक्रिया के संचालन के लिए यह तीन गुण अव्यक्त या मूल प्रकृति के रूप में पृथक् हो जाते हैं। इससे आगे सांख्य संमत सृष्टि क्रम ही यहाँ स्वीकार किया गया है। अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति से क्रमशः बुद्धि, अहंकार, पंच तन्मात्रा और एकादश इंद्रिय, भूतपंचक और फिर इससे सारे भौतिक जगत् की सृष्टि होती है। प्रकृति को इस संहिता में तम, गुण, साम्य, अविद्या, स्वभाव, योनि, अयोनि, गुणयोनि इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। यही है संक्षेप में वैष्णवागम सम्मत सृष्टि प्रक्रिया।

२. शैवागम सम्मत सृष्टि प्रक्रिया

शैवागमों में भी शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार की सृष्टि मानी गयी है। शतरत्नसंग्रह में बताया गया है कि परम शिव के साथ समवेत महामाया शक्ति के क्षुब्ध होने पर नाद नामक प्रथम तत्त्व उत्पन्न होता है। इसको शिव तत्त्व भी कहते हैं। इसके उपरान्त बिन्दु तत्त्व विकसित होता है। इसको शक्ति तत्त्व भी कहते हैं। शक्ति से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर और ईश्वर से शुद्ध विद्या नामक तत्त्व की उत्पत्ति होती है। ये ही पांच तत्त्व शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत आते हैं। शुद्ध सृष्टि का कर्ता शिव है और इसका समवायी कारण बिन्दु है। अशुद्ध सृष्टि के कर्त्ता अनन्त हैं और इसमें समवायी कारण माया है। शुद्ध विद्या, ईश्वर और सदाशिव को क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्र महेश्वर भी कहते हैं। इनका शरीर बैन्दव उपादान से बना है। अशुद्ध सृष्टि का विवेचन आगे किया जायगा। इससे पहले षड्ध्वात्मक सृष्टि प्रक्रिया का विवेचन आवश्यक है।

३. षडध्वात्मक सृष्टि प्रक्रिया

शैवागमों में षडध्व प्रक्रिया के आधार पर ही सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। महाकवि कालिदास ने शिव और पार्वती के अर्धनारीश्वर रूप की उपमा शब्द और अर्थ से दी है। शारदातिलक की टीका में उद्धृत वायवीय संहिता में बताया गया है—

शब्दजातम शेषं तु घन्ते शङ्करवल्लभा।
अर्थस्वरूपमखिलं घन्ते मुग्धेन्दुशेखरः।।

अर्थात् पार्वती और परमेश्वर ही शब्द और अर्थ के रूप में परिणत होते हैं। महार्थमंजरीकार ने लिखा है—

यदध्वनां च षड्कं तत्र प्रकाशार्थलक्षणमर्धम्।
विमर्शशब्दस्वभावमर्धमिति शिवस्य यामलोल्लासः।।

अर्थात् षडध्व प्रक्रिया में अर्थस्वरूप तीन अध्वा प्रकाशमय शिव का अर्धभाग है और शब्दस्वरूप तीन अध्वा विमर्शमय शक्ति का अर्धभाग है। इस तरह से शब्द और अर्थमय यह सारा जगत् शिव के यामल स्वरूप से, अर्धनारीश्वर स्वरूप से उल्लसित होता है। प्रकाशमय शिव से कला, तत्त्व और भुवन की तथा विमर्शमय शक्ति से वर्ण, पद और मन्त्र की सृष्टि होती है। ये ही इस शास्त्र में षडध्व के नाम से परिभाषित है। भास्करराय ने वानवस्यारहस्य में इनको शब्दमयी और अर्थमयी सृष्टि का नाम दिया है। यह विभाग काश्मीर शैव दर्शन और शाक्त दर्शन को भी समान रूप से मान्य है। मूलतः यह विभाग सिद्धान्त शैव दर्शन में विकसित हुआ है। तदनुसार कला के पांच भेद हैं—शान्त्यतीत शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। तत्त्व ३६ हैं। इनको तीन विभागों में बांटा गया है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या यह पांच शुद्ध तत्त्व हैं। माया, कला, अविद्या, राग, काल, नियति और पुरुष यह सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं। प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त सांख्य सम्मत चौबीस तत्त्व अशुद्ध कहलाते हैं।

पंचकंचुक एवं पंचकृत्य

माया और पुरुष के बीच के पांच तत्त्व पंचकंचुक कहलाते हैं। इनके कारण जीव का शिव स्वरूप छिप जाता है, उसकी सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता प्रभृति शक्तियां संकुचित हो जाती हैं। आगम दर्शन में सृष्टि, स्थिति और संहार के अतिरिक्त निग्रह और अनुग्रह भी शिव के कृत्य माने जाते हैं और इस तरह से शिव पंचकृत्यकारी कहलाता है। निग्रह व्यापार के प्रवृत्त होने पर जीव संकुचित हो जाता है, वह बन्धन में पड़ जाता है। अनुग्रह व्यापार के प्रवृत्त होने पर, जिसको कि यहाँ शक्तिपात के नाम से जाना गया है, वह पुनः अपने स्वरूप का दर्शन करता है, अपने संकुचित स्वरूप को, कंचुक को उतार फेंकता है और पुनः अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

भुवनों की संख्या २२४ है। इसी तरह से वर्णों की संख्या ५०, पदों की ८१ और मन्त्रों की संख्या ११ है। यह विभाग सिद्धान्त शैवों को मान्य है। वैष्णवागमों में तथा अन्यत्र भी भुवनों की संख्या १४ ही दी गयी है। शाक्त आगमों में वर्णों की संख्या ५१ है। व्योमव्यापित् प्रभृति ८१ पदों का तथा हृदय, सद्योजात प्रभृति मन्त्रों का वर्णन सिद्धान्त शैवों के आगम ग्रन्थों में विस्तार से मिलता है। पांचरात्र ग्रन्थों में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था को पद नाम से जाना गया है। अन्यत्र पद शब्द का प्रयोग पाणिनि सम्मत अर्थ में किया गया है और पदों तथा मन्त्रों की संख्या अनन्त मानी गयी है।

षडध्व प्रक्रिया के अन्तर्गत ही यह सारा जगत् है। सिद्धान्त शैव ग्रन्थों में वर्णित प्रविलापन प्रक्रिया के अनुसार अकारात्मक अनुत्तर शिव में सारे षडध्वात्मक जगत् को विलीन कर दिया जाता है। भूत-शुद्धि से मिलता जुलता यह एक भावनात्मक व्यापार है।

४. कौलागम सम्मत सृष्टि प्रक्रिया

कौलागमों में, जिनकी की साधना विधि शैव और शाक्त तन्त्रों से ही नहीं, बौद्ध और जैन सम्प्रदाय के योग-तन्त्र के ग्रन्थों से भी प्राय: मिलती जुलती है मातृका अर्थात् वर्णों से ही सारे जगत् की सृष्टि मानी गयी है। इनके अनुसार अकार अर्थात् अनुत्तर ही परम तत्व है। यह स्मरण रखने की बात है कि इस पद का प्रयोग शिव या शक्ति के लिए ही नहीं, भगवान् बुद्ध के लिए भी हुआ है और वह भी परवर्ती तान्त्रिक ग्रन्थों में ही नहीं, अपितु, पालि के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। अनुत्तर से प्रथमतः आनन्द, इच्छा और उन्मेष अवस्थाएं अभिव्यक्त होती हैं। जो कि आकार, इकार और उकार वर्णों के प्रतीक हैं। फिर इन्हीं से स्वर और व्यंजनात्मक मातृका और उससे सारे जगत् की सृष्टि होती है। यह विषय अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक में विस्तार से वर्णित है।

५. शाक्तागम सम्मत सृष्टि प्रक्रिया

पुण्यानन्द का कामकलाविलास आपातत यद्यपि कामशास्त्र का ग्रन्थ प्रतीत होता है, किन्तु इसमें श्रीचक्र की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। श्रीचक्र एक यन्त्र है। इसमें अपने आवरण देवताओं के साथ भगवती त्रिपुरसुन्दरी की उपासना की जाती है। त्रिकोण और उसके मध्य में स्थित बिन्दु इसमें प्रधान है। मध्य स्थित बिन्दु में त्रिपुरसुन्दरी की तथा त्रिकोण की

तीन रेखाओं में क्रमश: कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी की उपासना की जाती है। ये क्रमश: ओड्याण, कामरूप, जालन्धर और पूर्णगिरि पीठ पर विराजमान हैं। इन चारों देवियों का विग्रह परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी से बना है।

इस ग्रन्थ की प्रथम दस कारिकाओं में संक्षेप में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। यहाँ भी शिव को प्रकाश स्वरूप और शक्ति को विमर्श का विलास माना है। प्रकाश स्वरूप शिव में यह विमर्शमय सारा जगत् अन्तर्लीन है, छिपा हुआ है और इस छिपे हुए रूप को अपने प्रतिविम्बत करने वाले आदर्श (दर्पण) का कार्य यह शक्ति करती है। इस तरह से केवल शिव अथवा केवल शक्ति जगत् का निर्माण नहीं कर सकती, किन्तु कामेश्वर-कामेश्वरी, शिव-शक्ति दोनों मिलकर ही सारे जगत् की सृष्टि करते हैं। शिव और शक्ति का यह समागम ही उस पराशक्ति को प्रबुद्ध करता है, जिससे कि बीज से अंकुर के समान शिव तत्त्व से लेकर क्षिति (पृथ्वी) तत्त्व पर्यन्त सारे जगत् की सृष्टि होती है। यह पराशक्ति प्रकाश अर्थात् अनुत्तर शिव के अकार तथा विमर्श लिपि हकवार को लेकर प्रत्याहार के रूप में समस्त मातृका वर्णों को समेट कर 'अहं' रूप में भासित हो उठती है। दर्पण में सूर्य के प्रकाश से प्रतिफलित होने पर जैसे पास की दीवार पर एक चमचमाता प्रकाशबिन्दु भासित हो उठता है, उसी तरह से स्वच्छ विमर्शरूपी दर्पण में परम शिवरूपी प्रकाश की किरणें जब प्रतिफलित होती हैं, तो उस समय ज्ञानरूपी दीवाल पर महाबिन्दु भासित होने लगता है और इस तरह से 'अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहं' इत्यादि वाक्यों में निविष्ट अहंता का स्पष्ट भास होने लगता है। यह महाबिन्दु वाद में शुक्ल, रक्त और मिश्र बिन्दु के रूप में त्रिधा विभक्त हो जाता है। शुक्ल और रक्त बिन्दुओं का एक युगल रहता है। इनमें शिव और शक्ति स्वतन्त्र रूप में अपनी स्त्यानावस्था का परित्याग कर सृष्टि की ओर उन्मुख होते हैं और शब्दमयी एवं अर्थमयी सृष्टि के रूप में षडध्वात्मक जगत् का निर्माण करते हैं। ये अग्नि और सोम के प्रतिनिधि हैं। वेद में भी जगत् को अग्नीषोमात्मक कहा गया है। मिश्र बिन्दु में शुक्ल और रक्त बिन्दु मिश्रित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया का सम्पादक रवि (सूर्य) है। इसी को काम-बिन्दु कहा जाता है, क्योंकि इस मिश्रीभाव स्थिति की सभी कोई कामना करते हैं। अग्नि और सोम के प्रतीक शुद्ध और रक्त बिन्दु कला के नाम से अभिहित होते हैं। इस तरह से काम और कला बिन्दुओं के योग से काम-कला का विकास होता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि ब्राह्मी लिपि में एकार और ईकार तीन बिन्दुओं के रूप में ही लिखे जाते हैं। एकार से वाग्भव बीज और ईकार से त्रिपुर-सुन्दरी बीज की निष्पत्ति मानी गयी है।

त्रिकोणमेकादशमं वह्निगेहं च योनिकम् ।
श्रृंगारं चैव एकारं नामभिः परिकीर्तितम् ।।

इस श्लोक में एकार बीज का वर्णन है। एक बिन्दु ऊपर और दो बिन्दु नीचे रखने से त्रिकोण का आकार बन जाता है। स्वरों में एकादश एकार का ब्राह्मी लिपि में यही स्वरूप है। त्रिकोण की आकृति सिंघाड़े जैसी होती है, अतः इसको श्रृंगाट भी कहते हैं। बौद्ध तन्त्रों में इसका वर्णन इस तरह से हुआ है—

एकाराकृति यद्दिव्यं मध्येषट्कारभूषितम् ।
आलयः सर्वसौख्यानां बौधरत्नकरण्डकम् ।।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त वचन में काम-कला पद से त्रिपुरसुन्दरी के बीजाक्षर का बोध कराया गया है। इस बीजाक्षर के माध्यम से ही उसकी उपासना की जाती है। इस काम-कला से ही समस्त तत्त्वों का विकास भी होता है।

६. भास्करराय सम्मत सृष्टि प्रक्रिया

भास्करराय आगम और तन्त्रशास्त्र के अन्तिम महान् आचार्य माने जाते हैं। नित्याषोडशिकार्णव की सेतुबन्ध टीका, वरिवस्यारहस्य और ललितासहस्रनाम की सौभाग्यभास्कर व्याख्या इनके प्रसिद्धतम ग्रन्थ हैं। सौभाग्यभास्कर में प्रसगवश इन्होंने प्रपंचसार में प्रतिपादित सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या करते हुए लिखा है—प्रलयावस्था में ब्रह्म घनीभूत दशा में अवस्थित रहता है। उस समय आगे जिन प्राणियों की सृष्टि की जाने वाली है, उनके कर्मों के साथ ब्रह्म की मायाशक्ति भी प्रसुप्तावस्था में रहती है। समय के अनुसार कर्मों का परिपाक होने पर ब्रह्म में विचिकीर्षा उत्पन्न होती है। उस समय मायाशक्ति प्रबुद्ध हो उठती है। ब्रह्म की यह स्थिति अव्यक्त के नाम से अभिहित होती है, क्योंकि इस दशा में यद्यपि कर्मों का परिपाक हो जाता है और उसकी शक्ति भी प्रबुद्ध हो जाती है, किन्तु वह अभी अव्यक्त रहती है। इसी को कारण-बिन्दु कहते हैं, क्योंकि यह जगत् रूपी अंकुर का कन्द भाग है। कन्द भाग अर्थात् जड़ के विकसित होने के बाद ही जैसे अंकुर फूटकर ऊपर आता है, उसी तरह से इस कारण बिन्दु के विकास के

बाद ही आगे की सृष्टि चलती है। 'विचिकीर्षुर्घनीभूता सा चिदभ्येति विन्दुताम्' प्रपंचसार के इस वचन में 'बिन्दु' पद कारण-विन्दु का बोधक है। इस कारण विन्दु से क्रमशः कार्यविन्दु, नाद और बीज की उत्पत्ति होती है, जो कि पदार्थों की पर, सूक्ष्म और स्थूल दशा के प्रतीक हैं। ये क्रमशः चित्स्वरूप, चिदचिन्मिश्रित स्वरूप और अचित्स्वरूप होते हैं। ये ही कारण विन्दु प्रभृति चार तत्त्व अधिदैवत अवस्था में अव्यक्त, ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् के ; शान्ता, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री के, अम्बिका, इच्छा, ज्ञान, क्रिया के रूप में विकसित होते हैं। अधिभूत अवस्था में ये कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर, और ओडचाण पीठ का रूप धारण करते हैं और अध्यात्म पक्ष में कारण बिन्दु शक्ति, पिण्ड, कुण्डली प्रभृति शब्दों से अभिहित होता है, जिसकी कि स्थिति मूलाधार में रहती है। यह कारण बिन्दु जब कार्य बिन्दु, नाद और बीज की उत्पत्ति के लिए उन्मुख होकर टूटता है, तो उस दशा में अव्यक्त, शब्द ब्रह्म नाम का 'रव' उत्पन्न होता है। जैसा कि प्रपंचसार में बताया गया है—

विन्दोस्तस्मादभिद्यमानादव्यक्तात्मा रवोऽभवत् ।
स रवः श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते ।।

इस रव का कारण-विन्दु से तादात्म्य रहता है, इसलिए यह सर्वगत है, तो भी इसकी अभिव्यक्ति मूलाधार में ही होती है। सभी प्राणियों में निवास करने वाला चैतन्य ही यहाँ शब्द-ब्रह्म के नाम से जाना गया है। यह प्राणियों के देह में कुण्डलिनी का रूप धारण कर लेता है और परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रम से वर्ण रूप में अभिव्यक्त होता है। इसकी अभिव्यक्ति के लिए व्यंजक के प्रयत्न से संस्कृत पवन की आवश्यकता पडती है। कारण विन्दु का यह अभिव्यक्त स्वरूप शब्दब्रह्म कहलाता है और मूलाधार में निष्प-न्दावस्था में अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी स्थिति को परा वाक् कहा जाता है। व्यंजक के प्रयत्न से संस्कृत पवन जब नाभि तक चला आता है, तो उस पवन से पश्यन्ती वाक् अभिव्यक्त होती है। यह विमर्शात्मक मन से जुड़ी रहती है और इसमें कार्यविन्दु का सामान्य स्पन्दन प्रकाशित हो उठता है। वही शब्दब्रह्म उसी संस्कृत पवन से प्रेरित होकर जब हृदय स्थान में अभिव्यक्त होता है, तो वह निश्चयात्मिका बुद्धि से संयुक्त होकर विशेष रूप से स्पन्दित होने वाले नाद का रूप धारण कर मध्यमा वाक् के रूप में प्रसिद्ध होता है। वही शब्दब्रह्म उसी संस्कृत पवन से प्रेरित होकर कण्ठ प्रभृति स्थानों में अभिव्यक्त होकर अकारादि वर्णों के रूप में कान से स्पष्ट सुनायी पड़ने

लगती है, तो बीज के रूप में प्रकाशित होता है। इसी को वैखरी वाक् कहते हैं। सामान्य आदमी मातृका के किसी वर्ण को सुनता है, तो उसको केवल वैखरी वाणी का ही बोध होता है। परा, पश्यन्ती और मध्यमा वाणी से इनकी क्रमशः कैसे अभिव्यक्ति हुई, इस बात को वह समझ नहीं पाता। निम्न श्रुति में यही प्रतिपादित किया गया है :—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।।

उपसंहार

ऊपर हमने वैष्णवागम और शैवागमों के दृष्टिकोण से सृष्टि प्रक्रिया का विवेचन किया है। इन्हीं आगमों की एक अवान्तर षडध्वप्रक्रिया को भी हमने देखा है। कौलागमों में मातृका से सारी सृष्टि का उन्मेष माना गया है, इसकी भी हमने परीक्षा की है और कामकला विलास के आधार पर सृष्टि प्रक्रिया के शाक्त स्वरूप को बताया है। अन्त में प्रपंचसार के आधार पर भास्करराय द्वारा प्रतिपादित सृष्टि प्रक्रिया को दिखाया है। इस क्रम में कालिक विकास को तो ध्यान में रक्खा ही गया है, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अन्ततः तान्त्रिक और वैदिक विचारधारा में किस तरह से समन्वय स्थापित हो गया। संक्षेप में अपना निष्कर्ष हम इस तरह से निकाल सकते हैं।

इन सभी मतों में अपने आराध्य की एक विश्वातीत अवस्था मानी गयी है, जो कि अपनी शक्ति के साथ स्तिमितावस्था में विद्यमान रहता है। यह पंचकृत्यकारी है। अपनी इच्छा से स्वतन्त्र रूप में यह इन कृत्यों का सम्पादन करता है। सृष्टि, स्थिति, और संहार में इसकी प्रवृत्ति निग्रह और अनुग्रह के लिए होती है। पंचकृत्य के सम्पादन के लिए उसे परमाणु, प्रकृति या कर्म की भी अपेक्षा नहीं रहती। इन पंचकृत्यों के सम्पादन में इसको अन्य किसी की अपेक्षा न रहने के कारण ही यह परम स्वतन्त्र है। आगम साहित्य में द्वैतवाद की प्रधानता है। ये ईश्वर को स्वतन्त्र और जीव को परतन्त्र मानते हैं। पति, पशु और पाश के रूप में किया गया विभाग इन आगमों को ही नहीं, शैव और वैष्णव आचार्यों को भी शाब्दिक परिवर्तन के साथ मान्य हैं। यहाँ ईश्वर को पति और जीव को पशु कहा गया है। ईश्वर पाश-विनिर्मुक्त है और जीव पाशबद्ध। मल, माया, अविद्या, कर्म ये सब पाश के अन्तर्गत हैं। ईश्वर के निग्रह व्यापार के प्रवृत्त रहने पर जीव पाशों में बुरी तरह फँस जाता है। इसी को बंध कहते हैं। ईश्वर के अनुग्रह व्यापार के उद्बुद्ध

होने पर यह पाशमुक्त हो जाता है, मोक्ष पदवी को प्राप्त कर लेता है।

शुद्ध और अशुद्ध के भेद से ईश्वर दो प्रकार की सृष्टि करता है। शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि को नियामक और नियम्य के रूप में समझा जा सकता है। अशुद्ध सृष्टि पर ईश्वर साक्षात् नियन्त्रण नहीं करता। यह अधिकार वह शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत विद्यमान व्यूह, व्यूहान्तर, विभव प्रभृति को अथवा मन्त्र, मन्त्रेश्वर, महामन्त्रेश्वर प्रभृति को सौंप देता है। बीज और वृक्ष की तरह यह सृष्टि प्रक्रिया अनादि काल से प्रवृत्त है। द्वैतवाद में ही नहीं, अद्वैतवाद में भी अणु परिमाण जीव की नित्य स्थिति मानी गयी है। माया के सहारे पंच कंचुकों का निर्माण कर अथवा पाश की सहायता से ये अधिकारी पुरुष जीव के वास्तविक स्वरूप को कि वह भगवान् का ही अंश है, आच्छादित कर देते हैं और उसके पूर्वकृत कर्मों के अनुसार उसे त्रिगुणात्मिका प्रकृति के प्रपंच में ढकेल देते हैं। गुरुकृपा, शक्तिपात, ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही इस प्रपंच से उसका उद्धार हो सकता है। अनुग्रह व्यापार को प्रबुद्ध करने के लिए जीव को गुरु की शरण में जाना पड़ता है। वह गुरु-प्रदत्त मन्त्र का जप करता है और मन्त्र में विद्यमान पदों और अक्षरों का विश्लेषण करते हुए वैखरी से मध्यमा, पश्यन्ती और परा वाणी तक की यात्रा पूरी करता है और वहाँ शब्दब्रह्म का साक्षात्कार करता है। अन्त में वह अपने उपास्य में लीन हो जाता है, सायुज्य प्रभृति नामों से व्याख्यात चतुर्विध मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

अद्वैतवादी आगमिकों की मान्यता है कि वह अपने मन से राम-कृष्ण, रावण-कंस प्रभृति की भूमिका में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार के सुख-दुःखों की अनुभूति स्वयं तटस्थ भाव से करता हुआ भी जैसे दर्शकों में साधारणीकरण प्रक्रिया के आधार पर सचमुच की सी अनुभूति पैदा करा देता है, उसी तरह से ईश्वर भी तटस्थ भाव से लीला करता है। लीला करते-करते वह बौद्ध और पौरुष अज्ञान से आवृत हो जाता है और इस तरह से उसकी शक्तियां और स्वरूप सकुचित हो जाते हैं। संकुचित प्रमाता के रूप में वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। यह स्वरूप विस्मृति ही इनके यहाँ बन्ध है और स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। इस तरह से इनके मत में बन्ध और मोक्ष की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। इनकी दृष्टि में यह सारा विश्व 'अहम्' का ही विलास है। चित्रकार कागज, कपड़ा या दीवाल पर अपनी कल्पना का चित्र उकेरता है। यह शिव ऐसा अनोखा चित्रकार है कि बिना

आधार के अपने आप में इस विश्व के उन्मीलन और निमीलन की लीला करता रहता हैं। अपनी अहन्ता को वह परिमित प्रमाता के रूप में भौतिक शरीर तक सीमित कर देता है और फिर वही पर प्रमाता के रूप में इस पूरे विश्व में विश्वाहन्ता के रूप में इसका विस्तार कर लेता है। इस स्थिति में वह इस पूरे विश्व को अपना कुटुम्ब नहीं, किन्तु स्वयं अपना ही स्वरूप मानता है। तन्त्रालोक में त्रिकशासन को उद्धृत करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है—

समता सर्वदेवानामोवल्लीमन्त्रवर्णयोः ।
आगमानां गतीनां च सर्वं शिवमयं यतः ।।

त्रिकशासन के निम्न दो श्लोकों में, जिसको कि तन्त्रालोक की टीका में जयरथ ने और महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ परिमल टीका में महेश्वरानन्द ने उद्धृत किया है, शक्तिसंगमतन्त्र में स्मृत समताष्टक मार्ग का प्रतिपादन इस तरह से मिलता है—

समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वशः ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां तथैव च ।
समता सर्वदेवानां वर्णानां नैव सर्वशः ।।

सन्तों और भक्तों की परम्परा से यह समता दृष्टि भारतीय जनमानस में सामान्य रूप से अपना स्थान बनाए हुए है। महात्मा गांधी में इसी दृष्टि का उन्मेष हुआ था। किन्तु आज इस समतादृष्टि के मूल स्रोत को हमने भुला दिया। आज का प्रवुद्ध भारतीय इस साम्यवाद की खोज में उस कस्तूरी मृग की भांति भटक रहा है, जिसको इसका ज्ञान नहीं है कि उस मनोमोहक गन्ध का स्वामी वह स्वयं ही है। आज इस बात की आवश्यकता है कि जैसे तत्कालीन सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समन्वय स्थापित कर मानव मात्र के कल्याण के लिए तान्त्रिक धर्म की प्रतिष्ठा की गयी थी, उसी तरह से आज भी विश्व के सभी धर्मों की उदात्त भावनाओं में समरसता, समन्वय स्थापित कर एक विश्वधर्म और विश्वसंस्कृति की प्रतिष्ठा की जाय।

———

सद्गुरु साम्राज्य

स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेविका तयोः।
सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः ।।

अमृतानन्द योगी के चिद्विलास स्तव का यह पहला श्लोक है। यहां पर शिव-शक्ति-सामरस्यमय परमशिव को ही गुरु मानकर उनकी पादुका का नमन किया गया है। अद्वैतवादी शैव अथवा शाक्त नय में सभी कुछ परम-शिव अथवा परासंवित् स्वरूप है। इसीलिये योगिनीहृदय के षडविध मन्त्रार्थ प्रकरण में चक्र, देवता, गुरु विद्या, और शिष्य में ऐक्यानुसन्धान का उपदेश किया गया है। इस प्रकार गुरुत्व का भी पर्यवसान अन्त में परमशिव रूप में ही होता है। सद्गुरु के मौखिक उपदेशों तथा उनके ग्रन्थों के आधार पर हम गुरु-तत्त्व के इसी स्वरूप पर प्रधानत ा अद्वयदृष्टि को ध्यान में रखते हुए यहाँ विचार करेंगे। प्रारम्भ में गुरु-तत्व के क्रमिक विकास का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

गुरु-तत्व के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये हमें गुरु-तत्व क्या है ? गुरु कितने प्रकार के होते हैं ? गुरु का वास्तविक कार्य क्या है ? गुरु-शिष्यकभाव की चरम परिणति कहां होती है ? आदि मुख्य प्रश्नों का तथा शक्तिपात, दीक्षा आदि आनुषंगिक विषयों का समालोचन करना होगा।

प्रथम गुरु ईश्वर

पातंजल योगसूत्र (१।२६) में ईश्वर को ही प्रथम गुरु माना गया है। भगवान् ही जीव के उद्धारकर्ता हैं। जीव को माया-पंक से उठाकर परम पद में स्थापित करने का सामर्थ्य और किसी में नहीं है। इसीलिये उन्हीं को सर्वत्र गुरु रूप से वर्णित किया जाता है। योगभाष्य में लिखा है कि—"तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय-महाप्रलयेषु संसारिण उद्धरिष्यामीति" (१।२५)। अर्थात् उसका अपना कोई

प्रयोजन न होने पर भी कल्प, प्रलय और महाप्रलय में ज्ञान एवं कर्म के उपदेश के द्वारा ससारी जनों का उद्धार करना ही, जीव कृपा ही, प्रयोजन है। ईश्वर[1] इन्द्रादि देवों को वेदादि शास्त्रों का उपदेश करते हैं, अथवा देव, मनुष्य, गन्धर्व आदि इनकी स्तुति करते हैं, इसलिये इनको गुरु कहा गया है।

लौकिक गुरु

गुरु[2] शब्द का साधारण अर्थ अज्ञान को निगल जाने वाला अथवा धर्म का उपदेश देने वाला है। सभी ज्ञान यहीं से प्रवृत्त होते हैं। गुरु-परम्परा के द्वारा ज्ञानप्रवाह निरन्तर चलता रहता है। ज्ञानप्रवाह की इस परम्परा को शाक्तागम में ओघ नाम दिया गया है। ओघ जलप्रवाह को कहते हैं, किन्तु यहाँ ज्ञानप्रवाह को भी ओघ ही कहा गया है। यह तीन प्रकार का होता है—दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ। अर्थात् ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान पहले देवताओं में प्रवाहित होता है, देवताओं से वह सिद्धों को प्राप्त होता है और सिद्धों से मानवों को। साधारणतया यही क्रम है। किन्तु इसका अपवाद भी है। किसी मानव-विशेष को कभी-कभी मानव गुरु से ज्ञान न प्राप्त होकर किसी सिद्ध, देवता अथवा स्वयं ईश्वर से भी वह प्राप्त होता है। पात्र की विशिष्टता ही इसमें कारण है। इस प्रकार का क्रमव्यत्यास किसी विशेष स्थिति में ही होता है। साधारणतया मनुष्य को मनुष्य से ही ज्ञान प्राप्त होता है।

सहिताब्राह्मण में गुरु से ज्ञान-प्राप्ति के छः उपाय बताये गये हैं—

ब्रह्मचारी धनदायी मेधावी श्रोत्रियः प्रियः।
विद्यया वा विद्यां यः प्राह तानि तीर्थानि षण्मम ॥

इस वेद वचन के आगे यह लौकिक उक्ति ठीक नहीं उतरती—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।
अथवा विद्यया विद्या चतुर्थं नास्ति साधनम् ॥

क्योंकि मेधावी, श्रोत्रिय अथवा प्रियजन को गुरु स्वयं खोज कर उपदेश करता है। यहाँ गुरु-शुश्रूषा, धन अथवा एक विद्या से दूसरी विद्या के

---

१. गृणाति उपदिशति वेदादिशास्त्राणि इन्द्रादिदेवेभ्य इति। यद्वा गीर्यते स्तूयते देवमनुष्यगन्धर्वादिभिरिति गुरुरीश्वरः।

२. गिरत्यज्ञानम्, गृणात्युपदिशति धर्ममिति गुरुः।

परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती। पुष्कल धन अथवा विद्या से भी जब विद्या प्राप्त होने लगी तो उसमें गुरु का आदर कुछ कम हो गया और कहा जाने लगा—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधायते ।।

(शत्रोरपि गुणा वाच्या) दोषा वाच्या गुरोरपि। इत्यादि

तन्त्रशास्त्र में इस प्रकार के वचनों को कोई प्रश्रय नहीं दिया गया। यहाँ तो गुरु को ईश्वर से भी ऊंचा स्थान दिया गया है—

हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन।

इत्यादि वाक्य इसी दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हैं। कुलार्णव के तेरहवें उल्लास में गुरु और शिष्य के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। योग्य शिष्य को एक ही गुरु से सन्तुष्ट हो जाना चाहिये अथवा आवश्यकतानुसार एक से अधिक भी गुरु किये जा सकते हैं ? इस विषय पर वहाँ सुन्दर प्रकाश डाला गया है। कुलार्णव का कहना है कि शैवागम में तीन गुरु, वैष्णवागम में पांच गुरु और वेदशास्त्र में अनेक गुरु हो सकते हैं, किन्तु कुलान्वय में एक ही गुरु होता है। एक गुरु का आश्रय लेने के बाद फिर अन्य गुरु के पास नहीं जाना चाहिये। यहीं आगे चलकर बताया गया है कि मधु का लोभी भ्रमर जैसे एक पुष्प को छोड़कर दूसरे पुष्प के पास जाता है, उसी प्रकार ज्ञान की आकांक्षा वाला शिष्य एक गुरु से दूसरे गुरु के पास जा सकता है। दत्तात्रेय के २४ गुरुओं का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। आगमाचार्य अभिनवगुप्त के भी अनेक गुरुओं की चर्चा स्वयं उनके ग्रन्थों में मिलती है। स्पन्दकारिका की कल्लट कृत संक्षिप्त वृत्ति के अन्त में यह श्लोक उपलब्ध होता है—

आ तपनान्मोटकान्तं यस्य मे गुरुसन्ततिः।
तस्य मे सर्वशिष्यस्य नोपदेशदरिद्रता ।।

यह सब विचार लौकिक गुरु की दृष्टि से ही किया गया है। अद्वैतवादी दर्शन में गुरु, शिष्य और शिव में कोई भेद नहीं रहता—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।

जब स्वयं सदाशिव ही गुरु और शिष्य बनकर स्वयं ही प्रश्न करते हैं और उसका समाधान भी स्वयं ही करते हैं, तब दोष-दृष्टि का अवसर ही कहाँ रह जाता है। इसीलिये—

गृणीते तत्त्वमात्मीयमात्मीकृतजगत्त्रयम् ।
उपायोपेयरूपाय शिवाय गुरवे नमः ।।

यहाँ पर गुरु को ही उपाय और उपेय दोनों कहा गया है।

सर्वज्ञो हि शिवो वेत्ति सदसच्चेष्टितं नृणाम् ।
तेनासौ नानुगृह्णाति किञ्चिज्ज्ञस्य गुरोर्गिरा ।।

इससे प्रतीत होता है कि अल्पज्ञ गुरु में सर्वज्ञत्व अभिव्यक्त नहीं होता और वह शिष्य के अनुग्रह के अयोग्य है। इसी स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये आगमशास्त्र में सद्‌गुरु और असद्‌गुरु शब्दों का व्यवहार होता है।

गुरु तत्व अथवा सद्‌गुरु

गुरु ज्ञान-दाता है। परोक्ष और अपरोक्ष सभी ज्ञान गुरु से ही प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त गुरु कर्म-दाता और भक्ति रस के दाता भी हैं। अर्थात् कर्म, ज्ञान और भक्ति की धाराऐं गुरु-तत्व के माध्यम से ही प्रवाहित होती हैं। 'गुरु' और 'सद्‌गुरु' ये दो शब्द साधन जगत् में प्रचलित हैं। साधारण दृष्टि से गुरु और सद्‌गुरु अभिन्न हैं, अर्थात् गुरु कहने से सद्‌गुरु का ही बोध होता है, क्योंकि परमार्थ-दृष्टि से असद्‌गुरु नाम का कोई पदार्थ नहीं है, तथापि व्यवहार के सौकर्य के लिये सद्‌गुरु शब्द की एक सार्थकता है। जिनके अनुग्रह से अखण्ड सत्य का स्वरूप प्रकाशित होता है, वे ही वास्तव में सद्‌गुरु हैं। केवल गुरु शब्द खण्ड सत्य के उपदेष्टा की प्रतीति कराता है। इस प्रकार के गुरु को आगमशास्त्र में असद्‌गुरु कहा गया है।

इसमें सन्देह नहीं है कि बहुत जगह गुरु और सद्‌गुरु दोनों शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है. परन्तु साथ ही यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी किसी जगह 'सत्' विशेषण लगाकर गुरुविशेष की असद्‌गुरु से विलक्षणता बतलायी गयी है। मालिनीविजय में वर्णित है :—

रुद्रशक्तिसमाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
मुक्तिभुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्‌गुरुं प्रति ।।

इससे प्रकट है कि सद्‌गुरु-प्राप्ति के मूल में भगवदिच्छा ही मुख्य कारण है और जीव की इच्छा उस मूल भगवदिच्छा की ही अनुगामिनी है। यह बात

उपर्युक्त 'यियासुः शिवेच्छया' इस वाक्यांश से प्रकट है। असद्गुरु की प्राप्ति के मूल में भी यह भगवदिच्छा ही काम करती है। सद्गुरु की खोज करने निकलना नहीं पड़ता, परन्तु कभी कभी अपने कर्म के क्षय के लिये अन्वेषण आवश्यक हो जाता है। समय पूरा होने पर सद्गुरु स्वयं ही मुमुक्षु को दर्शन देते हैं। सद्गुरु के बिना अल्पज्ञ जीव माया से मोहित होकर दिग्भ्रान्त हो भटक जाता है। वह अपने स्वरूप का अनुसन्धान नहीं कर सकता। सद्गुरु वस्तुतः स्वयं श्रीभगवान् ही हैं। उनकी अनुग्रह शक्ति ही गुरुपद-वाच्य है। वे उपेय हैं, अर्थात् उपाय के सहयोग से प्राप्त होते हैं और उपाय भी वे ही हैं। वे अपना मार्ग स्वयं न दिखावें तो कौन उनको खोज सकता है। उपयुक्त आधार का अवलम्बन करके गुरुरूपी श्रीभगवान् जीव के सामने अपनी अनुग्रह शक्ति को प्रकाशित करते हैं। जीव की योग्यता विभिन्न प्रकार की होती है, अतएव जीवों के सामने विभिन्न भाव से इस शक्ति का प्रकाश होता है। तान्त्रिक परिभाषा में इसको शक्तिपात कहते हैं। इस पर आगे विस्तार से विचार किया जायेगा।

इस प्रकार 'सद्गुरु' शब्द का मुख्य प्रयोग यद्यपि श्रीभगवान् के लिये किया जाता है, तथापि भगवान् का पूर्ण अनुग्रह जिनको प्राप्त है, ऐसे तत्सा-धर्म्ययुक्त जीवन्मुक्त अधिकारी पुरुष भी 'सद्गुरु' कहलाते हैं। ये अधिकारी देवता, सिद्ध और पुरुष तीनों हो सकते हैं। इसका निर्देश पहले किया जा चुका है।

असद्गुरु

तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उससे तादात्म्य बोध किये बिना ही जो उसका उपदेश करता है, वही वास्तव में असद्गुरु है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि असद्गुरु में गुरुत्व कहाँ है? 'गुरु' शब्द का वास्तविक अर्थ लेने पर ही इस प्रकार की शंका होती है। गुरु शब्द का संकुचित अर्थ ग्रहण करने पर यह शंका अपने आप निवृत्त हो जाती है, क्योंकि माया से उद्धार न कर सकने पर भी जो लोग ऊँचे लोकों के भोगैश्वर्य और अजरत्व, अमरत्व आदि परिमित सिद्धियाँ दे सकते हैं, वे भी व्यवहारतः गुरु ही कहलाते हैं। इस प्रकार के गुरु केवल भोग दे सकते हैं, दिव्यज्ञान नहीं। ये माया से नहीं तार सकते, इसीलिये 'असद्गुरु' कहे जाते हैं।

ऐसे गुरु भी हैं, जो ज्ञान दे सकते हैं, परन्तु भोग या विज्ञान नहीं दे सकते। ज्ञान देकर वे शिष्य को माया से मुक्त कर देते हैं, परन्तु विज्ञान के

अभाव में वह शिष्य को अधिकार नहीं दिला सकते। इस प्रकार का शिष्य स्वय मुक्त हो जाता है, परन्तु वह दूसरे को मुक्त नहीं कर सकता, परोपकार नहीं कर सकता। ऐसे गुरु ज्ञानी गुरु होते हैं, योगी नहीं। इस प्रकार के गुरु सद्‌गुरु की कोटि में नहीं आ सकते। सिद्ध योगी होने के कारण जो एक साथ ही योगी और ज्ञानी उभयात्मक होते हैं, वे ही सद्‌गुरु हैं। वे शिष्य के लिये भोग और मोक्ष दोनों का विधान कर सकते हैं। कारण वे विज्ञान भी प्रदान करते हैं। पूर्णता की प्राप्ति ऐसे ही सद्‌गुरु की कृपा से हो सकती है।

शक्तिरूप गुरु

शाक्त तन्त्रों के अनुसार मां ही गुरु-रूप में भावना करने योग्य है। भावनोपनिषद् में सर्वकारणभूता शक्ति का गुरु-रूप में वर्णन किया गया है। तन्त्रराज (कादिमत) तन्त्र में भी कहा गया है –

> गुरुराद्या भवेच्छक्तिः सा विमर्शमयी मता।
> नवत्वं तस्य देहस्य रन्ध्रत्वेन विभाव्यते ॥

ये नौ रन्ध्र ही देह के नौ द्वार हैं। इन नौ द्वारों में दो नेत्र और वाक् ये तीन दिव्यौघ हैं, दो चक्षु और उपस्थ ये तीन सिद्धौघ हैं एवं दो नासिकायें और पायु ये तीन मानवौघ हैं। देह में नौ रन्ध्र ही नौ नाथों के स्वरूप हैं। शिवसूत्रवार्तिक में भी परमेश्वर की अनुग्रहात्मिका पराशक्ति को गुरु कहा गया है।

गुरुत्व-तत्त्व के भेद

मूल में गुरु-तत्त्व के रहने पर भी गुरुवर्ग में श्रेणी-विभाग होता है। यह श्रेणी-विभाग गुरु के उपदेशों के निम्न-उच्च विभाग के रूप में प्रतिष्ठित है, एवं यह गुरु की ज्ञान वितरण की शक्ति के तारतम्य से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि ज्ञान स्वरूपतः एक होने पर भी उपाधि के सम्बन्ध से विविध रूप का प्रतीत होता है। कुलार्णव में प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक भेद से छः प्रकार के गुरु बताये गये हैं। इनमें बोधक गुरु ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। शक्तिपात रूपी उपाय के तीव्रतादि भेद से भी गुरु अनेक प्रकार के होते हैं। इस दृष्टि से प्रथमतः गुरु-तत्त्व के सांसिद्धिक और संस्कृत ये दो भेद होते हैं। जिनमें स्वयं ही ज्ञान का उदय हुआ हो वे सांसिद्धिक गुरु कहे जाते हैं। जिन्हें दूसरे से ज्ञान प्राप्त हो वे संस्कृत गुरु कहलाते हैं। सांसिद्धिक गुरु ही अकल्पित गुरु कहलाते हैं। इन्होंने दूसरे आचार्य की सहायता से

सिद्धि नहीं पायी है, इसी से इनको अकल्पित कहते हैं। सांसिद्धिक गुरु शक्तिपात की मात्रा के अनुसार क्रमशून्यता अथवा क्रमवत्ता के कारण सर्वगामी अथवा आंशिक हो सकते हैं। संस्कृत गुरु अकल्पितकल्पक, कल्पित, कल्पिताकल्पित भेद से तीन[1] प्रकार के होते हैं। ये सब भेद मनुष्य गुरु के हैं। इनके अतिरिक्त सिद्ध-गुरु और दिव्य-गुरु भी शास्त्रों में वर्णित हैं। इनके विषय में पहले ही लिखा जा चुका है।

इष्टतत्त्व व साधक

गुरु-तत्त्व के महत्त्व को समझने के लिये इष्टतत्त्व और साधक के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। शिवसूत्र में गुरु को उपाय कहा गया है। मन्त्र और मुद्रा आदि के रहस्य का बोध गुरु के उपदेशों से ही प्राप्त होता है। शास्त्र में कहा गया है—

> आदिमान्तिमहीनास्तु मन्त्राः स्युः शरदभ्रवत्।
> गुरोर्लक्षणमेतावदादिमान्त्यं तु योजयेत्॥

साधक का मतलब यहाँ योगी और अयोगी दोनों प्रकार के साधकों से है। गुरु जो उपाय बतलाते हैं, शिष्य अथवा साधक उन्हीं का अवलम्बन कर इष्ट-प्राप्ति के पथ पर आगे बढ़ता है। यह उपाय मन्त्र रूप देवता की आराधना है। इस आराधना के अंग के रूप में कर्म, ज्ञान और भक्ति का परिगणन होता है। साधक साधना के मार्ग में चलते चलते क्रमशः आराधना में परिपक्वता प्राप्त करता है, एवं दिव्य ज्योतिर्मय शक्ति के रूप में अपने आराध्य देवता का साक्षात्कार करता है। यही इष्ट-देवता का साक्षात्कार है।

गुरु स्वरूपतः निराकार चैतन्यमय है। निराकार चैतन्य साकार साधक के प्रति अगोचर है एवं साकार इष्ट साधक के लिये अप्राप्य है। किन्तु इष्ट के साथ साधक का योग होने पर वह निराकार चैतन्यस्वरूप की ओर अग्रसर हो सकता है। यह गति साधक और इष्ट की सम्मिलित गति है। इस गति के अन्त में साधक और इष्ट एक होकर निराकार चैतन्यस्वरूप से मानो मिल जाते हैं। तब 'अहम्' नहीं रहता, इसीलिये साधक नहीं रहता, इष्ट नहीं रहता और इसीलिये साध्य भी नहीं रहता। सब मिल कर निराकारता सम्पादनपूर्वक निराकार चैतन्य के साथ अभेद-लाभ कर लेते हैं। इसी का

---

१. विशेष विवरण के लिये द्रष्टव्य—भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ० २५८-५९।

नाम गुरु-साक्षात्कार है। गुरु-तत्त्व तक अधिकार होने पर स्वयंप्रकाश आत्मा अपने आप अभिव्यक्त हो उठता है।

गुरु का वास्तविक कार्य

गुरु का पहला काम शिष्यरूपी जीव के दुःख की निवृत्ति की व्यवस्था करना है। गुरु शिष्य को अनुग्रहपूर्वक ज्ञान प्रदान कर अज्ञान से उसे विमुक्त करते हैं, अथवा मुक्त होने में सहायता देते हैं। जीव सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त करके शिवभावापन्न होते हैं और सब विषयों को तत्त्वतः जानकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में देहादि में आत्माभिमान नहीं रहता तथा विकल्पहीन स्वात्मबोध खुल जाता है। इस अवस्था में देह रहने पर भी न रहने के बराबर होता है। इसीलिये कहा गया है :—

> यस्मिन् काले तु गुरुणा निर्विकल्पं प्रकाशितम्।
> तदैव किल मुक्तोऽसौ यन्त्रं तिष्ठति केवलम्॥

अर्थात् जिस समय गुरु के द्वारा निर्विकल्प बोध प्रकाशित कर दिया जाता है, उसी समय वह मुक्त हो जाता है। फिर वह केवल यन्त्रभाव रह जाता है। गुरु का प्रधान कार्य है आश्रित शिष्य की दृष्टि का परदा खोल देना तथा उसको सत्य के अनावृत स्वरूप का दर्शन कराना। शास्त्र में कहा है—

> अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
> चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थात् गुरु अज्ञानरूपी अन्धकार से अन्धे व्यक्ति के नेत्रों को ज्ञानरूपी अञ्जन-शलाका से खोल देते हैं। जीव का आत्मस्वरूप क्या है ? इसको दिखा देना गुरु का कार्य है। इस पथ पर चलना तथा क्रियाकौशल, भावना अथवा संवेग के द्वारा उस पथ को पूरा करना शिष्य का काम है। गुरु की कृपा और शिष्य का कौशल दोनों मिलकर ही सिद्धि-लाभ करा सकते हैं।

गुरु कृपा से चित्त-विश्रान्ति

गुरु शिष्य को जब ज्ञान देने लगते हैं, उस समय उनकी इच्छा और क्रियाशक्तियां सहायता प्रदान करती हैं। दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा को कृपा अथवा करुणा कहते हैं। जो ज्ञानी होकर भी इस प्रकार की इच्छा से रहित अर्थात् कृपा-शून्य है, वह दूसरे को उसका दुःख अथवा अज्ञान निवृत्त करने के लिये ज्ञानोपदेश करने को क्यों प्रवृत्त होगा ? करुणा ही

एकमात्र प्रवर्तिका है। इच्छाहीन में करुणा कहां ? इच्छा अप्रतिहत रहने पर ही वह क्रिया के रूप में स्थूल आकार धारण करती है। तब वह इच्छा अमोघ अर्थात् अव्यर्थ होती है। इसी अमोघ इच्छा से प्रवृत्त होकर गुरु शिष्य को ज्ञान देने में प्रवृत्त होते हैं। यही गुरु कृपा है। इससे शिष्य के चित्त को विश्रान्ति-लाभ होता है। शास्त्र में कहा गया है—

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥

सद्गुरु मन्त्ररूप वाक्य के द्वारा अथवा केवल कृपा-पूर्ण अवलोकन से भी एक ही क्षण में चित्तविश्रान्ति प्रदान करते हैं। यहाँ आनन्द की अभिव्यक्ति गुरु-कृपा का गौण लक्ष्य है, चैतन्यरूप में आत्मप्रकाश ही उसका प्रधान लक्ष्य है।

साधक अथवा शिष्य

शिष्य के लक्षण आदि के सम्बन्ध में शास्त्रों में विस्तार से विवेचन मिलता है। उनकी यहाँ चर्चा न कर हम गुरु-तत्त्व से सम्बद्ध प्रसंगों की ही चर्चा करेंगे। साधक अथवा शिष्य भोगार्थी और मोक्षार्थी भेद से दो प्रकार के होते हैं। गुरु के लिये शिष्य को दीक्षा देने से पहले यह देखना आवश्यक है कि वह स्वप्रत्ययी या गुरुप्रत्ययी। यदि वह स्वप्रत्ययी हो तो गुरु को उसकी वासना के अनुसार ही दीक्षा देनी चाहिये और यदि वह गुरुप्रत्ययी है, अर्थात् यदि वह एकान्तभाव से गुरु के ऊपर ही निर्भर है. तो गुरु को चाहिये कि उसके लिये भोगदीक्षा का प्रबन्ध न करके मोक्षदीक्षा का प्रबन्ध करें। क्योंकि स्वप्रत्ययी शिष्य प्रधानतः भोगार्थी और गुरुप्रत्ययी शिष्य मोक्षार्थी होता है। शिष्य की योग्यता के अनुसार दीक्षा अनेक प्रकार की होती है, इस पर आगे विचार किया जायेगा। शक्तिपात के प्रसंग में यह भी विचार किया जायेगा कि किस प्रकार शिष्य का समयी, पुत्रक, देशिक और आचार्य के रूप में क्रमिक विकास होता है। शक्तिपात के बिना शिष्य को न तो सद्गुरु का लाभ ही हो सकता है और न उसकी स्वरूप-बोध की ओर प्रवृत्ति ही हो सकती है। अतः यह शक्तिपात क्या है ? इस पर विचार कर लेना आवश्यक है।

शक्तिपात

आत्मा की स्वरूपावस्थिति अथवा मोक्ष-प्राप्ति मानव जीवन का स्वाभाविक उद्देश्य है। तान्त्रिक आचार्यों के मत से शक्तिपात इसका एकमात्र उपाय

है। भगवदनुग्रह या कृपा भी इसी का नामान्तर है। शक्तिपात का मुख्य लक्षण भगवद्भक्ति का उन्मेष है। शक्तिपात अथवा अनुग्रह कब और क्यों होता है, इसका उत्तर दृष्टि-भेद से अनेक प्रकार से दिया जाता है। किसी का मत है कि शक्तिपात ज्ञान के उदय से होता है। ज्ञानवादी आचार्यों के मत में ज्ञान को ही कर्मक्षय का कारण मानकर शक्तिपात के साथ उसका कार्य-कारण-सम्बन्ध माना जाता है। अन्य आचार्यों का मत है कि शक्तिपात का वास्तविक कारण ज्ञान नहीं है, अपितु कर्मसाम्य है। दो समान बल वाले विरुद्ध कर्मों के पारस्परिक प्रतिबन्ध से कर्म का साम्य होता है और इस साम्य से ही शक्तिपात होता है। अन्य आचार्यों का मत है कि ज्ञान अथवा कर्मसाम्य शक्तिपात का हेतु नहीं है, उसका कारण तो मल-पाक है। मल-पाक से अनुग्रह शक्ति का पात होता है। यही शक्तिपात है। शक्तिपात होते ही मल का आवरण हट जाता है और अपना विशुद्ध स्वरूप प्रकाशित हो उठता है, अर्थात् शान्त और निर्मल आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इस मत में शक्तिपात के तारतम्य का कारण मलपाक की विभिन्नता ही है मलपाक के इस सिद्धान्त से भी अनुग्रह-तत्त्व का परम रहस्य नहीं खुलता। इनके मत में मल का पाक ही होता है, उसका नाश नहीं होता। अतएव शक्तिपात के विषय में मलपाकवाद को ही चरम सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। अद्वयदृष्टि ही चरम दृष्टि है। इस दृष्टि में परमेश्वर अद्वय और स्वातन्त्र्यमय है। अतएव धर्मादिनिरपेक्षभाव से केवल भगवान् की इच्छा से ही अनुग्रह होता है, यही वास्तविक सिद्धान्त है। अर्थात् शक्तिपात ज्ञान, कर्मसाम्य अथवा मलपाक के अधीन नहीं है, अपितु निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र है। इसीलिये उत्पल ने अपनी स्तोत्रावली में कहा है—

> शक्तिपातसमये विचारणं प्राप्तमीश न करोषि कर्हिचित्।

अर्थात् हे भगवन्! शक्तिपात के समय, अर्थात् जीव पर कृपा करते समय आप कभी पात्र-अपात्र का विचार नहीं करते।

शक्तिपात का तारतम्य जीव के आधार, अर्थात् धारणा-शक्ति के भेद से होता है। शक्तिपात में वैचित्र्य रहने से तन्मूलक अधिकार में भी वैचित्र्य रहता है। समयी, पुत्रक, साधक तथा आचार्य या गुरु ये सब अधिकार-भेद शक्तिपात के वैचित्र्य से ही उत्पन्न होते हैं। ये सब अधिकार समष्टिरूप से भी आविर्भूत हो सकते हैं तथा व्यष्टिरूप में पृथक् पृथक् भाव से भी हो सकते है। ये किसी के तो क्रम से होते हैं, अर्थात् पहले समयी का अधिकार पाकर

तदनन्तर पुत्रकभाव की प्राप्ति करके अन्त में आचार्यभाव में स्थिति होती है, परन्तु किसी किसी के जीवन में ये विना क्रम से भी होते देखे गये हैं। जैसे कोई पुरुष समयी अवस्था को प्राप्त हुये बिना ही पुत्रक अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं, अथवा सीधे ही समयी, पुत्रक और साधक अवस्थाओं को लांघ कर आचार्य पद पर पहुंच जाते हैं। शक्तिपात की मात्रा मन्द होने पर जीव मायाधिकार को प्राप्त कर रुद्रांश बन जाते हैं। इसके बाद परमेश्वर की विशिष्ट कृपा से क्रमशः पुत्रक-दीक्षा के बाद पूर्णत्व लाभ करते हैं। इसका शास्त्रीय नाम समयी है। अपेक्षाकृत तीव्रतर शक्तिपात के प्रभाव से कोई कोई जीव विशुद्ध अध्वा से युक्त होकर देहपात के अनन्तर पूर्णत्व-लाभ करते हैं। अथवा क्रमलंघन करते हुए जीवन काल में ही पूर्णत्व-लाभ कर लेते हैं। इन पुरुषों का पारिभाषिक नाम पुत्रक है। कोई कोई पहले भोग और ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं। फिर उससे विरक्त होकर परम पद में स्थिति-लाभ करते हैं। इन्हें साधक कहते हैं। परन्तु कोई ऐसे भी पुरुष होते हैं, जो अपना कर्तव्य समाप्त करके पंचकृत्यकारी[1] परमेश्वर के स्वरूप में प्रतिष्ठित होते हैं, तथा गुरु अथवा आचार्य पद पर आरोहण करके जीवों पर अनुग्रह करते हैं। इनमें भी शिष्यों की विभिन्न योग्यताओं के अनुसार भेद रहता है, अर्थात् कोई शिष्य के भोग का विधान करते हैं और कोई मोक्ष का। परन्तु इनका अपना कोई भी कर्त्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता।

भगवत्कृपा से प्राप्त शक्तिपात के द्वारा अनुगृहीत साधक जब अपने स्वरूपलाभ के लिये व्याकुल हो उठता है, तब भगवद्-इच्छा की प्रेरणा से उसके चित्त में सद्गुरु की प्राप्ति के लिये शुभ इच्छा जग उठती है। यही इच्छा शुद्धविद्या या सत्तर्क के नाम से प्रसिद्ध है। असद्गुरु हो या सद्गुरु दोनों की

---

१. परमेश्वर के पांच कर्म तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध हैं। उनका नाम है पंचकृत्य। ये हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह। निग्रह का दूसरा नाम तिरोधान है। अन्य दार्शनिक साधारणतः सृष्टि, स्थिति और सहार इन तीनों की ही गणना करते हैं, किन्तु सृष्टि के मूल में तिरोधान का और मुक्ति के मूल में अनुग्रह का व्यापार निरन्तर चलता रहता है। तिरोधान या निग्रह से आत्मस्वरूप का आच्छादन हो जाता है। अद्वैतमत में एक अद्वितीय परमेश्वर के सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। वे लीला के बहाने अपने को अपनी स्वतन्त्रता से संकुचित कर अणुरूप धारण करते हैं और शक्तिपात या अनुग्रह शक्ति के माध्यम से पुनः स्वात्मस्वरूप का लाभ कर लेते हैं।

ही प्रवृत्ति के मूल में है भगवद्-इच्छा। सत्य बात यह है कि साधारणत: शक्तिपात की प्रवृत्ति क्रमिक होती है। इसीसे कोई कोई साधक असद्गुरु और अपूर्ण तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का आश्रय लेकर उसके बाद सद्गुरु के आश्रय को प्राप्त करते हैं और कोई कोई पहले से ही सद्गुरु की कृपा प्राप्त कर लेते हैं। इस अवस्था में उसकी असद्गुरु के पास जाने की इच्छा नहीं रहती।

शक्तिपात तीव्र, मध्य तथा मन्द भेद से प्रधानतया तीन प्रकार का होता है। इनमें से प्रत्येक के फिर तीव्रादि अवान्तर तीन तीन भेद होते हैं। शास्त्रों में इनका विस्तार से वर्णन मिलता[1] है। तीव्र तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से तत्क्षण देहपात होकर मोक्ष प्राप्त होता है। यहाँ पर भोग के द्वारा प्रारब्ध क्षय की अपेक्षा नहीं रहती। अत्यन्त तीव्र होने के कारण यह शक्तिपात प्रारब्ध कर्मों का भी नाश कर देता है। मध्यतीव्र शक्तिपात से देह का नाश नहीं होता, केवल अज्ञान की निवृत्ति होती है। परन्तु इस अज्ञान-निवृत्ति के लिये जिस ज्ञान की अपेक्षा है, उसका लाभ पृथक्‌रूप से गुरु अथवा शास्त्र द्वारा नहीं होता। वह स्वयं ही हृदय में स्फुरित होता है। अपनी प्रतिभा से स्फुरित होने के कारण इस अनौपदेशिक महाज्ञान को 'प्रातिभ ज्ञान' कहा जाता है, जिसका उदय हो जाने पर शास्त्र एवं आचार्य की आवश्यकता नहीं होती।

प्रातिभ ज्ञान

सत्तर्क या शुद्धविद्या का उदय कैसे होता है? इस विषय में किरणागम में कहा गया है :– गुरुत: शास्त्रत: स्वत:। इसका तात्पर्य यह है कि किसी में गुरु के उपदेश के द्वारा तो किसी में शास्त्र के द्वारा सत्तर्क की उत्पत्ति होती है। परन्तु ऐसे उत्कृष्ट योग्यताविशिष्ट उत्तम साधक भी होते हैं, जिनको गुरु के उपदेश की अथवा शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती और उनमें अपने आप ही सत्तर्क या शुद्धविद्या का उदय हो जाता है। त्रिपुरारहस्य ज्ञानखण्ड में कहा गया है :—"उत्तमानां तु विज्ञानं गुरुशास्त्रानपेक्षणम्"। गुरु जैसे शास्त्राधिगम के लिये उपायरूप है, वैसे ही शास्त्र भी स्वभाव-प्राप्ति का द्वारभूत है, किन्तु इसमें शिष्य की प्रज्ञा ही प्रधान कारण है। योगवाशिष्ठ में कहा गया है :— "शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यत:" (निर्वाण-१।१२८।१६३)। अर्थात्

---

१. द्रष्टव्य :—शक्तिपात रहस्य, भारतीय संस्कृति और साधना, भा० १, पृ० २२०-२३७।

गुरुवाक्य से जो बोध पैदा होता है, उसमें शिष्य की प्रज्ञा ही कारण है। अतएव गुरु और शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान में भी स्वपरामर्श ही मुख्य हेतु है।

जिसका सत्तर्क स्वभावत: उदित होता है, उसके अधिकार में बाधा पहुँचा सके, ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है। उसको बाह्य दीक्षा और बाह्य अभिषेक की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वयं संविद्देवियों के द्वारा ही दीक्षित और अभिषिक्त होता है। आदिगुरु परमेश्वर को तत्तत्क्षेत्र में अधिष्ठित करना ही संस्कार का यथार्थ उद्देश्य है। प्रतिभावान् पुरुष में यह अधिष्ठान स्वत: सिद्ध है, इसलिये उसके लिये संस्कार निष्फल हैं। शक्तिपात का मुख्य लक्षण भगवद्भक्ति का उन्मेष है। वह प्रतिभावान् पुरुष में अवश्य ही रहता है। अत: उसे क्रिया एवं दीक्षादि का प्रयोजन नहीं रहता। प्रातिभ ज्ञान उदित होने पर अपनी इन्द्रिय-वृत्तियाँ अन्तर्मुख होकर प्रमाता अर्थात् आत्मा के साथ तादात्म्यलाभ करती हैं और देवीभाव को प्राप्त हो जाती है :—

वहिर्मुखस्य मन्त्रस्य वृत्तयो याः प्रकीर्तिताः।
ता एवान्तर्मुखस्यास्य शक्तय: परिकीर्तिताः॥

अर्थात् मन्त्र[1] यानी चित्त के वहिर्मुख होने पर जो वृत्तियां कही जाती हैं, वे ही उसके अन्तर्मुख होने पर शक्तियां, संविद्देवियां कहलाती हैं। ये ही द्योतनकारिणी संविद्देवियां हैं। ये साधक के ज्ञान और क्रियारूप प्रसुप्त चैतन्य को उत्तेजित करती हैं। यही दीक्षा है। जिस क्रिया के फलस्वरूप वह सर्वत्र स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, वही अभिषेक है। इस प्रकार का संविद्देवियों से दीक्षित और अभिषिक्त साधक किसी लौकिक निमित्त का आश्रय लिये बिना ही शास्त्रों के गूढ़ रहस्य को जान लेता है। यही प्रातिभ ज्ञान कहलाता है।

जिनमें स्वत: ही सत्तर्क का उदय होता है, उनके सारे बन्धन ढीले हो जाते हैं और उनमें पूर्ण शिवभाव का आविर्भाव हो जाता है। इन्हीं को सांसिद्धिक गुरु कहते हैं। ये सांसिद्धिक गुरु ही अकल्पित गुरु कहलाते हैं। इन्होंने दूसरे आचार्य की सहायता से सिद्धि नहीं पायी है, इसी से इनको अकल्पित कहा जाता है। गुरु-तत्त्व के भेद के प्रकरण में यह बताया जा चुका है।

दीक्षा

जिसका प्रातिभ ज्ञान जग उठा है, उसके लिये दीक्षा तथा गुरु की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु साधक राज्य में मन्दतीव्र आदि शक्तिपातों की

---

१. 'चित्तं मन्त्रः' (२।१) इस शिवसूत्र में मन्त्र को चित्त रूप में वर्णित किया गया है।

अवस्था में दीक्षा का प्रयोजन है और पथ-प्रदर्शन के रूप में गुरु की भी आवश्यकता है। दीक्षा वस्तुतः आत्म-संस्कार का ही दूसरा नाम है। आणव, कार्म और मायीय—इन तीन प्रकार के मल अथवा पाशों से ससारी आत्मा आच्छन्न रहती है। इनके प्रभाव से उसके स्वभावसिद्ध पूर्णत्व के प्रस्फुटित होने का अवसर नही आता। आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से पूर्ण तथा शिवस्वरूप होने पर भी आणव मल के कारण स्वरूपगत संकोच से अपने को अपूर्ण समझता है, स्वयं अपरिच्छिन्न होकर भी अपने को सर्वथा परिच्छिन्न अनुभव करता है। यह परिच्छिन्नता अथवा आणवभाव प्राप्त होने के बाद उसमें शुभाशुभ वासनाओं का उद्भव होता है, जिनके विपाकरूप में जन्म (देह सम्बन्ध), आयु (देह स्थिति काल) और भोग (सुखदुःखानुभव) अनिवार्य हो जाते हैं। यही कार्म मल है, कर्म से उत्पन्न कंचुकमय आवरण। कला, विद्या, राग, काल तथा नियति और इनकी समष्टिभूता माया, पुर्यष्टक तथा स्थूलभूतमय विभिन्न जातीय कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल देह, इन सब देहों के आश्रयभूत विचित्र भुवन और नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों का अनुभव जिसके कारण होता है उसे मायीय मल कहते हैं। बद्ध आत्मा में इन तीन मलों का आवरण सर्वदा ही रहता है। दीक्षा द्वारा इस मलयुक्त आत्मा का संस्कार होता है। शास्त्र में कहा गया है :—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ॥

अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का क्षय होता है, ऐसी दान और क्षपण युक्त क्रिया को दीक्षा कहते हैं। द्वैतमत में आणव मल अज्ञान नहीं, अपितु अज्ञान का हेतुभूत द्रव्यविशेष है। यह आत्मा के अनादि आवरण का कारण है। जैसी नेत्रों की जाली होती है, वैसा यह भी है। द्रव्यरूप होने के कारण यह ज्ञान से नष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान इसका विरोधी नहीं है। यह दीक्षारूप क्रिया के द्वारा ही निवृत्त होता है। मल की निवृत्ति से उसका कार्य अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। मन्त्र आदि के प्रभाव से वागीश्वरी में जन्मलाभ होने पर मायीय जगत् में फिर जन्म नहीं होता। दीक्षा के समय गुरु शक्ति के बल से इसी प्रकार के द्वितीय जन्म की प्राप्ति होती है। दीक्षा काल में गुरु कृपा से जीव जब इस गुरु-शक्ति को प्राप्त करता है, तभी से वह शक्ति निरन्तर कार्य करने लगती है। शक्ति के विकास के साथ साथ उसके समस्त आनन्द-कण क्रमशः एकत्र होने लगते हैं और जिस

चित्त में गुरु-शक्ति पड़ती है, उसका परम शिव से योग हो जाता है । इसी लिये कहा गया है :—

दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।

अर्थात् दीक्षा ही मुक्त करती है और वही ऊपर की शिव धाम में भी ले जाती है । जैसे भस्म में छिपी हुई अग्नि मुख अथवा धौकनी की वायु से दहक उठती है, जैसे ठीक समय में बोया और सींचा हुआ बीज अंकुर और पल्लवादि रूप से अभिव्यक्त हो जाता है, उसी प्रकार दीक्षा के समय गुरु-उपदिष्ट क्रिया के द्वारा शिष्य का प्रातिभ ज्ञान व्यक्त हो उठता है । यही बात शास्त्रों में इस प्रकार अभिव्यक्त की गयी है :—

तदागमवशात् साध्यं गुरुवक्त्रान्महाधिया ।
शिवशक्तिकरावेशाद् गुरुः शिष्यप्रबोधकः ।।

अर्थात् वह ज्ञान आगम और गुरु-मुख के द्वारा प्राप्त हो सकता है । गुरु के चैतन्य शक्तिमय कर स्पर्श से, अर्थात् भगवान की शक्तिरूप किरण के द्वारा गुरु शिष्य का प्रबोध करते हैं । स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है :—

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमत्त्वाद् गुरोः सदा ।

अर्थात् दीक्षा के प्रभाव से केवल गुरु-भक्ति से ही मुक्ति-लाभ हो जाता है ।

शिष्य की योग्यता के अनुसार दीक्षा अनेक प्रकार की होती है । शास्त्रों में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है । सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा में :—

दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ।।

शिष्य को जराग्रस्त और व्याधियों से पीडित देख कर गुरु शरीर से उत्क्रमण करा कर परतत्त्व में नियोजन कर देते हैं ।

गुरुधाम या गुरुराज्य

सद्‌गुरु शिष्य को दीक्षा देने के बाद उसे आसन दान करते हैं । यह आसन बिछाना पड़ता है भूमि के ऊपर । इसलिये गुरु को आसन दान के साथ साथ आसन बिछाने के लिये भूमि भी देनी पड़ती है । योगी शिष्य को जब आसन प्राप्त हुआ तो समझना चाहिये कि देह-पात के अनन्तर उसकी आत्मिक सत्ता निरालम्ब अवस्था में उड़ती हुई नहीं रहेगी । उसे भूमि पर

बैठने का अवसर प्राप्त होगा। इस भूमि पर अपने आसन पर बैठ कर उसे कर्म करना पड़ेगा। योगी शिष्य को मृत्यु के बाद अवशिष्ट कर्म करने के लिये जो भूखण्ड प्राप्त होता है, उसको गुरुधाम या गुरुराज्य कहते हैं। इस स्थान पर प्रत्येक योगी अपने अपने आसनों पर आसीन होकर कार्य में निरत रहते हैं। उस कर्म के प्रभाव से योगी का योग चक्षु उन्मीलित होता है। तभी योगी का यथार्थ योग-पथ खुल जाता है। यह गुरुधाम अथवा गुरुराज्य आगमशास्त्र में विशुद्ध अध्वा के नाम से वर्णित है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कोई शुष्क ज्ञान प्राप्त कर प्रकृति से विवेक में प्रतिष्ठित होने से कैवल्य-लाभ करते हैं और कोई दिव्य ज्ञान के क्रमिक उत्कर्ष से गुरुराज्य अथवा गुरुधाम में प्रवेश प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। सद्गुरु के अनुग्रह के मूल में इस प्रकार का पार्थक्य क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सद्गुरु एक प्रकार से अखण्ड विश्व गुरु हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु जिस आधार में उनकी शक्ति संचारित होती है, उसकी धारणा शक्ति के तारतम्य के अनुसार ही शक्ति-संचार में भी तारतम्य रहता है। "शिष्यप्रज्ञैव बोधस्य कारणं गुरुवाक्यत." योगवाशिष्ठ का यह वाक्य पहले उद्धृत किया जा चुका है। इसी से अनुग्रह के प्रकाश में प्रार्थक्य का अनुभव होता है।

गुरुराज्य में प्रवेश करने का जो द्वार है, उसका नाम भ्रमरगुहा है। भ्रमर-गुहा चरम शून्य के बाद एवं पूर्ण सत्य के पहले, अर्थात् दोनों के सन्धिस्थल में स्थित है। भ्रमरगुहा का भेद हो जाने पर वास्तविक सत्य राज्य में प्रवेश मिल जाता है। व्यष्टि, समष्टि तथा महासमष्टि सभी काल के राज्य तथा काल के नियन्त्रण में है, किन्तु सत्य राज्य यथार्थ गुरुराज्य है। काल के राज्य में मन और माया के खेल रहेंगे ही, सृष्टि और प्रलय की विभिन्न प्रकार की लीलायें भी अवश्यंभाविनी हैं। वहाँ प्रकाश और अन्धकार, दिन और रात सब द्वन्द्व रहते हैं। गुरुराज्य द्वन्द्वातीत है। वहाँ दिन रात नहीं, सृष्टि-संहार नहीं और चित् तथा अचित् का विभाग भी नहीं है। वहाँ काल की कोई प्रभुता नहीं है किन्तु ह्लादिनी शक्ति की क्रीड़ा के लिये, आनन्द के आस्वादन के लिये, नित्यगुरु के अधीन उनका किंकररूप काल अवश्य रहता है। काल का राज्य कार्यकारण के भाव पर प्रतिष्ठित है, गुरुराज्य स्वातन्त्र्यमय स्वाधी-नता मय है। वही वास्तविक स्वराज्य है। इसमें प्रवेश होने के बाद ही दीक्षा के चरम लक्ष्य सामरस्य की सिद्धि होती है।

सामरस्य

सामरस्य की प्राप्ति दीक्षा का चरम लक्ष्य है। दीक्षा की प्रक्रिया में पाशक्षय और शिवतत्त्वयोजन नाम दो व्यापार हैं। इन दोनों के पूर्ण हुये बिना दीक्षा सम्पन्न नहीं होती एवं शिवत्व की प्राप्ति भी नहीं होती। योजन क्रिया अत्यन्त कठिन कार्य है। साधारण गुरु इसका सम्पादन नहीं कर सकते। जिनके ज्ञान और योग ये दोनों ही सुचारु रूप से अभ्यस्त हैं, वे शिष्य की योजन क्रिया सम्पन्न कर सकते हैं। यह एकमात्र गुरु का ही करणीय कर्म है, इसमें शिष्य का कुछ भी करणीय नहीं है। इसमें प्राण वायु का संचार, प्राण स्थित समग्र अध्वा या मार्ग का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विभागज्ञान, हंसोच्चार, काल का त्याग और उसके अनन्तर शून्यभाव की प्राप्ति आदि व्यापार आते हैं। सब भूमियों पर एक के बाद एक पर विजय पा सकने पर सब के अन्त में सामरस्य के प्रश्न का अवसर आता है। स्वच्छन्द तन्त्र के अनुसार सामरस्य सात प्रकार का है:—आत्मा, मन्त्र, नाड़ी, शक्ति, व्यापिनी, समना और सबके अन्त में तत्त्व में सामरस्य। समरस भाव का ज्ञान होने पर फिर कभी भी मोह का आक्रमण नहीं होता। समना के बाद उन्मना शक्ति में अनुप्रवेश के साथ ही सप्तम सामरस्य की प्राप्ति होती है। यहीं सबसे उत्तम सामरस्य है। यह सामरस्य ही सर्वोत्तम गुरुपादुका है। विश्वगुरु परम शिव की पादुका ही गुरुपादुका है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के त्रिकोणरूप आधार में इसकी अवस्थिति रहती है। यह गुरुपादुका पर और अपर भेद से दो प्रकार की है। पूर्णाभिषेक कर्ता लौकिक गुरु की पादुका अपर पादुका है। गुरु की पर पादुका का विवेचन चिद्विलास स्तव के पूर्वोद्धृत इस श्लोक में हुआ है:—

> स्वप्रकाशशिवमूर्तिरेकिका तद्विमर्शतनुरेकिका तयोः।
> सामरस्यवपुरिष्यते परा पादुका परशिवात्मनो गुरोः॥

अर्थात् स्वप्रकाश शिवरूप भी गुरुपादुका है और विमर्श अथवा शक्तिरूप भी गुरुपादुका है, किन्तु श्रेष्ठ गुरु पादुका वही है, जहाँ शिव और शक्ति का सामरस्य रहता है।

शिव और शक्ति के सामरस्य के तुल्य गुरु और शिष्य का सामरस्य भी आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्य जिस प्रकार गुरुस्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है, गुरु भी ठीक उसी प्रकार शिष्यस्वरूप में विश्रान्त होते हैं। शिष्य जैसे गुरु में आत्मसमर्पण कर अपने स्वत्व को खो

देता है अथवा गुरु में स्थिति लाभ करता है, वैसे ही गुरु भी शिष्य को आत्म-समर्पण करते हैं। तभी तो शिष्य गुरुस्वरूप को प्राप्त करता है। गुरु यदि अपने को त्यागे नहीं तो शिष्य गुरु को नहीं पा सकता और शिष्य यदि अपने को न त्यागे तो गुरु भी शिष्य को नहीं पा सकता। शिष्य के हृदय में जैसे गुरु आसीन रहते हैं, वैसे गुरु के हृदय में भी शिष्य निवास करता है। यह सामरस्य अवस्था में पहुँचने की सीढ़ी है। इसी के बाद योगिनीहृदय के षड्विध मन्त्रार्थ प्रकरण में प्रदर्शित चक्र, देवता, गुरु, विद्या और शिष्य के सामरस्य की तथा स्वच्छन्दतन्त्र में प्रतिपादित सप्तविध सामरस्य की अधिगति होती है और अन्त में परम सामरस्यरूप परा पादुका अथवा सद्गुरु के साम्राज्य में प्रवेश-लाभ होता है। गुरु-प्रसाद से ही यह सब सम्भव हो सकता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जायेगा कि तन्त्रशास्त्र में सद्गुरु को इतना महत्त्व क्यों दिया जाता है ?

दक्षिण भारत का भक्ति आन्दोलन

एक समय ऐसा था, जब कि पूरे भारत में भक्ति के आन्दोलन की शीतल धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका मूल प्रेरणास्रोत दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन को माना जाता है। दक्षिण भारत के भक्तों की [1]भागवत महापुराण में भी प्रशंसा की गई है। ऐसे अनेक [2]वचन संस्कृत तथा इतर भाषाओं में भी मिलते हैं, जिनका अभिप्राय यह है कि भक्ति द्रविड देश में उत्पन्न हुई। कर्णाटक और गुजरात होते हुए वह वृन्दावन पहुँची तथा वहीं से यह सारे देश में फैली। यह बात कहाँ तक सच है ? प्रस्तुत निबन्ध में इसकी परीक्षा करने का प्रयास किया जा रहा है।

वैसे तो भक्ति-सम्प्रदाय की भी उत्पत्ति वेद से ही मानी जाती है. किन्तु विष्णु-शिव, राम-कृष्ण सम्बन्धी जिस भक्ति की हम विवेचना करना चाहते हैं, उसका स्पष्ट स्वरूप वहाँ लक्षित नहीं होता। हाँ, विष्णु और शिव की भक्ति के अद्यावधि परिज्ञात प्राचीनतम रूप, पांचरात्र और पाशुपत की कुछ

---

१. 'कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः।
क्वचित् क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः।।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।"
(भाग० ११।५।३८-४०)।

२. "उत्पन्ना द्रविडे साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।।
···वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताऽहं युवती सम्यक् प्रेष्टरूपा च साम्प्रतम्।।
(भा० माहात्म्य, १।४८,५०)।

झलक हमें वहाँ देखने को मिल जाती है। [1]शतपथ ब्राह्मण में पांचरात्र सम का उल्लेख है और [2]छान्दोग्य उपनिषद् में [3]एकायन विद्या को. जो कि एक प्रकार से पांचरात्र संहिताओं का पर्यायवाची शब्द है। [4]वहाँ घोर आंगिरस द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को दिये गये उपदेश में सत्य, अहिंसा का भी समावेश है, जो कि पांचरात्र मत के मूल सिद्धान्त हैं। इसी तरह से कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद को [5]रुद्राध्याय तथा [6]कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में रुद्र के ईशान, तत्पुरुष. अघोर, सद्योजात, वामदेव—इन नामों के साथ आये पांच मन्त्रों में जिनका कि समावेश पुष्पांजलि मन्त्रों में आज भी प्रचलित है, शिव के जिन पांच स्वरूपों की स्तुति की गई है, वे ही परवर्ती पाशुपत मन के मूल आधार हैं। तो भी आज उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में पांचरात्र और पाशुपत मतों का वह स्वरूप नहीं देखने को मिलता, जो कि इन सम्प्रदायों के वर्तमान में उपलब्ध साहित्य में देखने को मिलता है।

महामुनि [7]पाणिनि और पतंजलि के ग्रन्थों तथा प्राचीन [8]शिलालेखों में शिव भागवतों और वासुदेव-संकर्षण के उपासकों का उल्लेख मिलता है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण, १०।३।४; १३।६।१

२. छान्दोग्य उपनिषद्, ७।१।२

३. एष एकायनो वेदः···मूलवेदानुसारेण छन्दसाऽऽनुष्टुभेन च ॥
सात्वतं पौष्करं चैव जयाख्येत्येवमादिकम् ।
दिव्यं सच्छास्त्रजालं तदुक्त्वा संकर्षणादिभिः ॥
प्रवर्तमास भुवि सर्वलोकहितैषिभिः ।" (ईश्वरसंहिता, १।४३; ५०-५१) ।

४. छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।१-६

५. तैत्तिरीयसंहिता, चतुर्थ काण्ड पंचम प्रपाठक तथा माध्यन्दिन संहिता, १६ वां अध्याय ।

६. मैत्रायणी संहिता, २।६।१; २।६।१०; तैत्तिरीयारण्यक १०।४३।४७

७. पाणिनि की अष्टाध्यायी ४।३।९८ एवं ५।२।७६ तथा उस पर पतंजलि का महाभाष्य द्रष्टव्य ।

८. घोसुण्डी शिखालेख तथा बेसनगर शिलालेख का विवरण द्रष्टव्य वैष्णव, शैव और अन्य धार्मिकमत, पृ० ३-४ ।

[1]महाभारत में भी इन दोनों सम्प्रदायों का तथा उनके सिद्धान्तों[2] का वर्णन किया गया है। पांचरात्र (वैष्णव) संहिताओं और शैवागमों का प्रादुर्भाव किन परिस्थितियों में कब हुआ, यह कह पाना तो कठिन है, किन्तु [3]धर्म-शास्त्रकारों ने धर्म का निर्णय करने में इनको भी एकमत से प्रमाण माना है। मूर्तियों और मन्दिरों की निर्माण विधि तथा पूजा पद्धति का विशद वर्णन इन्हीं में मिलता है। इन शैव और वैष्णव आगमों के अध्ययन से ऐसा भासित होता है कि इनका आविर्भाव भी पुण्यभूमि आर्यावर्त में ही हुआ। [4]अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों ने इसको स्वीकार किया है, किन्तु आज इन आगमों का परम्परागत अध्ययन केवल दक्षिण भारत में ही सुरक्षित है। ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय भक्ति सम्प्रदाय के मूल प्रेरणास्रोत में आगम ग्रन्थ ही हैं।

दक्षिण भारत में जब आलवारों का वैष्णव भक्ति आन्दोलन और नायनारों का शैव भक्ति आन्दोलन चल रहा था, लगभग उसी समय उत्तर

---

१. "उमापतिर्भूतपति श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः।
उक्तवानिदमव्यग्रो ज्ञानं पाशुपतं शिवः॥
पाञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वेत्ता तु भगवान् स्वयम्।" (शान्तिपर्व, ३४९।६७-६८)।

२. पांचरात्र मत का महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान (अध्याय ३३४-३५१, गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण) में तथा पाशुपत मत का अनुशासन पर्व (अध्याय १४-१८) में विस्तार से वर्णन है।

३. अपरार्क कृत याज्ञवल्क्यस्मृति टीका, भा० १,५-१०-१९ (आनन्दाश्रम संस्करण, पूना, सन् १९०३) तथा वीरमित्रोदय, परिभाषा प्रकरण, पृ० २० (वाराणसी संस्करण, सन् १९०३) द्रष्टव्य।

४. "निःशेषशास्त्रसदनं किल मध्यदेशः" (तन्त्रालोक, ३७।३८) अभिनवगुप्त की इस उक्ति से कि समस्त शास्त्रों की उद्भवभूमि मध्यदेश है, उक्त विषय की पुष्टि होती है। इन शास्त्रों में दीक्षा देने वाला सर्वश्रेष्ठ अधिकारी आर्यावर्त का आचार्य ही माना गया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि मध्यदेश के ही आचार्य मालवा, गुजरात, कर्णाटक, कश्मीर, बंगाल प्रभृति प्रदेशों में वहाँ के शासकों के द्वारा सादर आहूत होकर फिर वहीं बस गये थे।

भारत में सिद्धाचार्यों का रहस्यवादी भक्ति आन्दोलन अपने चूडान्त उत्कर्ष तक पहुंच चुका था। इनमें कुछ समानताएँ और कुछ असमानताएं थीं। ये सभी लोग इस बात को मानते थे—'जात-पांत पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।।" इसीलिये इन सभी सम्प्रदायों में सभी वर्णों और धर्मों के उच्च कोटि के भक्तों और सिद्धों को समान आदर के साथ एक ही 'भक्तमाल' में पिरोया गया है। इनकी सबसे बड़ी असमानता यह थी कि दक्षिण भारत के भक्ति आन्दोलन का प्रेरणास्रोत आगम ग्रन्थ थे तो उत्तर भारत के सिद्धाचार्य रहस्यवादी तन्त्रशास्त्रों (बौद्ध, शैव और शाक्त) से प्रभावित थे। ऐसा कहा जा सकता है कि आगम ग्रन्थों में सात्त्विक भाव की प्रधानता है, जबकि रहस्यवादी तन्त्रशास्त्र राजस और तामस भावों को अधिक उद्वेलित करता है। इसी विषमता का यह परिणाम हुआ कि अपनी शुद्ध सात्त्विकता के आधार पर दक्षिण भारत में प्रादुर्भूत भक्ति आन्दोलन पूरे भारत में फैल गया। इसका श्रेय दक्षिण भारत के वैष्णव सन्तों (आलवारों) के साथ उन आगम ग्रन्थों को मिलना चाहिये, जिनकी कि एक लम्बी परम्परा रही है और जिन्होंने विषम परिस्थितियों में उपनिषदों की परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

[1]आवाप और उद्वाप की प्रक्रिया के आधार पर भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। बौद्ध और जैन धर्म ने जब हिंसा बहुल कर्मकाण्ड के साथ वेदों का भी विरोध किया तो आगम ग्रन्थों के माध्यम से एक नई पूजाविधि का आलोक फैला और बौद्ध एवं जैन धर्म भी उससे अछूते न रह सके। वैदिक संस्कृति के सभी उत्कृष्ट तत्त्वों का इसमें समावेश था। इसी तरह से आगम और तन्त्रशास्त्र के कर्मकाण्ड में भी अत्यधिक जटिलता आ जाने पर भक्ति आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ जिसमें कि भावना पर अधिक बल दिया गया, [2]चित्त के परिष्कार को सर्वोत्तम विधि माना गया। योगवाशिष्ठ को हम इस शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ मान सकते हैं। यों तो इस प्रक्रिया का आरम्भ भगवद्गीता में ही हो चुका था, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इस

---

१. द्रष्टव्य—"प्राचीन भारतीय विद्ये चे पुनर्दर्शन" नामक ग्रन्थ में प्रकाशित आगम आणि तन्त्रशास्त्र" नामक मराठी निबन्ध (पृ० १८१-१९६)। वेदशास्त्रोत्तेजक सभा, पूना, सन् १९७८

२. "विष्ठापूर्णे मृद्घटे तु बहिः शुद्धौ तु किं फलम् (अन्तःशुद्धिं समासाद्य बहिःशुद्धिं समाचरेत् ।।" (शक्तिसंगमतन्त्र, ४।११।७४-७५)।

भावना पद्धति का स्पष्ट विकास प्रधानतया आगम ग्रन्थों के आधार पर दक्षिण भारत में हुआ।

दक्षिण भारत के इस भावना के प्रतिनिधि वैष्णव सन्त आलवार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके वचनों को तमिल वेद की संज्ञा दी गई है। इनकी संख्या १२ है। शैव सन्त नायनार के नाम से जाने जाते हैं। इनकी संख्या ६३ है। जैन धर्म में भी ६३ शलाका पुरुषों का वर्णन मिलता है। ऊपर सिद्धाचार्यों की चर्चा आ चुकी है। इनकी संख्या ८४ थी। ऐसा कहा जाता है कि इनमें प्रधानतः बौद्ध मत के अनुयायी थे। इस तरह से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस भक्ति आन्दोलन में सभी धर्मों और वर्णों के महान् सन्तों ने अपना योगदान किया था। वर्णाश्रम-व्यवस्था में भी यद्यपि ऊंच-नीच की कोई भावना नहीं है किन्तु कालान्तर में उपस्थित इस दोष का परिमार्जन इन सन्तों की वाणी में हुआ है। औपनिषद् ब्रह्मभावना था, जोकि 'अहं ब्रह्माऽस्मि, शिवोऽहम्, वसुधैव कुटुम्बकम्" प्रभृति रूपों में श्रुति, आगम और पुराण वचनों में मिलता है, इन सन्तों की वाणियों में और व्यक्तिगत जीवन में भी चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है।

शाक्त उपासना के क्षेत्र में भी दक्षिण भारत का अपना विशष स्थान है। शक्तिपूजा की तीन विधियां प्रचलित हैं। इनको केरल, काश्मीर गौड सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है। इन सम्प्रदायों की पूजाविधि का [1]शक्ति-संगम तन्त्र में विस्तार से वर्णन मिलता है। [2]इस तन्त्र में भारतवर्ष को ५ प्रस्थ और ५६ प्रदेशों में बांटा गया है। इनमें से अंग से मालव पर्यन्त १९ प्रदेशों में केरल सम्प्रदाय का प्रचलन बताया गया है और इन तीनों सम्प्रदायों में केरल सम्प्रदाय को ही प्रधान माना गया है। दक्षिण भारत में श्रीचन्द्र और भगवती त्रिपुर सुन्दरी की उपासना भगवत्पाद शंकराचार्य द्वारा सौन्दर्य लहरी में प्रतिपादित समय मार्ग के अनुसार सम्पन्न होती है। यह समय मार्ग ही केरल सम्प्रदाय के नाम से प्रचलित है। इसी को दक्षिण मार्ग भी कहते

---

१. द्रष्टव्य—शक्तिसंगम तन्त्र, चतुर्थ छिन्नमस्ता खण्ड, उपोद्घात, पृ० ३०-३२, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, बडोदा, सन् १९७८

२. शक्तिसंगम तन्त्र में ३।८।१-२२ पर प्रस्थव्यवस्था और ३।७।१५-७३; ४।२।१६-३२ पर देशव्यवस्था प्रकरण में इनका वर्णन किया गया है।

हैं। यह भावना प्रधान मार्ग है। इसमें आन्तर वरिवस्या को प्रधानता दी गई है। यह आन्तर वरिवस्या कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् कर षट्चक्र का भेदन कर सहस्रार कमल में कुल कुण्डलिनी का अकुल शिव के साथ सामरस्य का सम्पादन कर पूरी की जाती है। यह एक यौगिक प्रक्रिया है।

शैव-शाक्त दर्शन में शिव पंचकृत्यकारी माना जाता है। सृष्टि, स्थिति, संहार के अतिरिक्त निग्रह और अनुग्रह भी उसके कृत्य हैं। ईश्वर का अनुग्रह होने पर, जिसको कि इस दर्शन में शक्तिपात नाम दिया गया है, योग्य गुरु की उपलब्धि होती है और उसी की कृपा से इस योगविधि का रहस्य खुल सकता है। साधारण साधक इस मार्ग पर नहीं चल सकता, अतः योग्यता सम्पादन के लिये उसको बाह्य वरिवस्या का सहारा लेना पडता है। केरल मार्ग, समय मार्ग, दक्षिण मार्ग में यह उपासना सात्त्विक द्रव्यों के द्वारा सम्पादित होती है। पंचतत्त्व की उपासना में भी यहाँ दुग्ध प्रभृति सात्विक द्रव्यों के ग्रहण की अनुकल्प विधि प्रतिपादित है।

शाक्त उपासना अधिकारी के भेद से नाना प्रकार के विधि विधानों से विभूषित है। मानवमात्र के कल्याण में यह प्रवृत्त है। अत्यन्त निम्न स्तर के मानवों का भी उद्धार करने के लिये, उनके मन को परिष्कृत करने के लिये, उनकी आध्यात्मिक उन्नति का पथ प्रशस्त करने के लिये, इनके लिये विहित साधना में पंच तत्त्व का विधान किया गया है, जिससे कि वे अपनी स्वाभाविक स्थिति में रहते हुए भी उस उच्च स्थिति तक पहुंच सकें, जब कि साधक 'अहं ब्रह्मास्मि, शिवोऽहम्" इन वाक्यों में प्रतिपादित ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है, उसमें 'विश्वाहन्ता का विकास हो जाता है। इस साधना विधि को दक्षिण भारत में उजागर करने वाले अनेक विद्वान् हुए हैं, जिनमें शिवानन्द, पुण्यानन्द, अमृतानन्द, महेश्वरानन्द प्रभृति के नाम अग्रगण्य हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने भगवद्गीता पर ज्ञानेश्वरी टीका लिखते समय इन्हीं आचार्यों की दृष्टि का अनुसरण किया है।

आजकल समाजवाद और साम्यवाद की बड़ी चर्चा की जाती है। पाश्चात्य संस्कृति की यह अद्भुत देन मानी जाती है। किन्तु हम यह भूल जाते हैं कि भारतीय तन्त्रशास्त्र में यह दृष्टि बहुत पहले ही विकसित हो चुकी थी। शक्तिसंगमतन्त्र' में समताष्टक मार्ग की चर्चा आती है। समताष्टक मार्ग

---

१. "तान्त्रिक योग की चरमोपलब्धिः विश्वाहन्ता" शीर्षक निबन्ध देखिये।
२. द्रष्टव्य—ताराखण्ड, १८.२१

का अभिप्राय उस सम्प्रदाय से है, जोकि आठ प्रकार की समता में विश्वास करता है। इस समताष्टक मार्ग की व्याख्या दक्षिण भारत के महान् शाक्त आचार्य महेश्वरानन्द ने अपने ग्रन्थ महार्थमंजरी की स्वोपज्ञ परिमल[1] टीका में की है।

इस प्रकार हम देखते हैं भक्ति आन्दोलन की सभी विधाओं के उन्नयन में दक्षिण भारत का अपना विशेष योगदान है।

---

१. "समता सर्वभावानां वृत्तीनां चैव सर्वश ।
समता सर्वदृष्टीनां द्रव्याणां चैव सर्वशः ।।
भूमिकानां च सर्वासामोवल्लीनां च सर्वशः ।
समता सर्वदेवानां वर्णानां चैव सर्वशः ।।" (पृ० १६८ काशी संस्करण)
ये ही श्लोक तन्त्रालोक की जयरथ कृत टीका में भी उद्धृत हैं (द्रष्टव्य —तन्त्रालोक, तृतीय खण्ड, चतुर्थ आह्निक, पृ० ३०४)।

———

२

संस्कृति खण्ड

सांस्कृतिक एवं सामाजिक विवेचन

गीता के प्रवक्ता समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण[1]

परतत्व के साक्षात्कार के लिये कर्मयोग और ज्ञानयोग के समान भक्ति-योग भी भारतीय धरती की ही उपज है तथा ईसा के जन्म में बहुत पूर्व ही यह मार्ग यहाँ विकसित हो चुका है, इस सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस विषय में अब कुछ लिखना पिष्टपेषण मात्र होगा। वैदिक कर्मकांड से, जिसकी कि प्रतिष्ठा मीमांसा दर्शन में हुई, कर्मयोग का और औपनिषद दर्शन से ज्ञानयोग का विकास हुआ, यह निर्विवाद मान्यता है। हमारे विचार से भक्तियोग का विकास आगमिक दर्शन से हुआ। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति प्रतिपादक वाक्यों को ढूंढने का प्रयत्न किया जाता है, किन्तु यह सब उस वाङ्मयकी अन्तरात्मा के विरुद्ध है।

अतिप्राचीन काल में यहाँ पर भक्ति मार्ग की धारा प्रवाहित थी, इसका मूक सन्देश हमको मोहनजोदड़ो और हड़प्पा संस्कृति के अवशेषों से सुनने को मिलता है। इसी धारा में आगमिक दर्शन का विकास हुआ और वैदिक धारा-पर भी इसका अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा। अथर्ववेद में तो इसका स्पष्ट प्रभाव भी प्रतीत होता है। आज हमको कर्म, ज्ञान और भक्ति में कोई विरोधाभास प्रतीत नहीं होता, किन्तु किसी समय भारतवर्ष के प्रबुद्ध जनों के समक्ष आज की जाति, सम्प्रदाय और भाषागत समस्याओं के समान यह एक असमाधेय समस्या के रूप में उपस्थित था। इसका समाधान समन्वयाचार्य श्रीकृष्ण ने गीता की रचना कर किया था।

'सर्वोपनिषदो गाव:' इत्यादि प्रमाणों में और कठादि उपनिषदों के गीता में उद्धृत वाक्यों से भी यह प्रतीत होता है कि गीता औपनिषद परम्परा का ग्रंथ है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। यह मुख्यत: भक्ति प्रपत्ति, शरणागति

---

१. 'दैनिक' 'आज वाराणसी जन्माष्टमी' विशेषांक (२ सितम्बर, १९६१) में प्रकाशित।

का प्रतिपादक ग्रन्थ है, जिसमें कि कर्म और ज्ञान का भी भक्ति में समन्वय किया गया है। जर्मन विद्वान् प्रोफेसर गार्वे ने और स्वर्गीय लोकमान्य तिलक ने इस मत का सयुक्तिक प्रतिपादन किया है। गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ के इलोको में गीतोपदिष्ट योग की जो परम्परा दी है, वह महाभारत शान्ति पर्व के नाराग्रणीयोपाख्यान में वर्णित पांचरात्र परम्परा के समान ही है। शतपथ ब्राह्मण में एक पांचरात्र सत्रका उल्लेख है। छान्दोग्य उपनिषद् के आंगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण के उपदेश हमको बेसनगर के गरुड़ध्वज शिलालेख में भी देखने को मिलते हैं। शिव भक्ति की परम्परा में जैसे पाशुपत आदि शैव दर्शनों का विकास हुआ, उसी प्रकार विष्णु भक्ति परम्परा में भी पांचरात्र म त की प्रतिष्ठा अति प्राचीनकाल में हो चुकी थी। प्रपत्ति या शरणागति इसका मुख्य उपदेश था, जिसमें कि अहम् भाव को निःशेष कर मनुष्य सर्वतोभावेन अपने को प्रभु के चरणों में अर्पित कर देता है।

> सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
> अहृ त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

गीता के इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसी शरणागति का उपदेश दिया है। गीता में कर्म, ज्ञान और भक्ति का जो समन्वय किया है, उसका समकालीन या परवर्ती संपूर्ण साहित्य पर प्रभाव पड़ा है। रामायण, महाभारत, मनुस्मृति और पुराण साहित्य इसी समन्वयात्मक दृष्टि के जीते-जागते प्रमाण हैं। यह जनता का धर्म था। स्त्री, वैश्य और शूद्र को भी इसमें समान अधिकार प्राप्त था।

जैन और बौद्ध धर्म के उदय के कुछ समय बाद यहाँ का धार्मिक वातावरण पुनः कलहपूर्ण हो गया। इससे देश की रक्षा गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा परिदर्शित समन्वयात्मक दृष्टि ने ही की। प्रियदर्शी अशोक और सम्राट् कनिष्क की दृष्टि सब धर्म के प्रति सहिष्णुता की थी। भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग, गुप्तों के राज्यकाल में विशाल पौराणिक साहित्य की सृष्टि हुई। इसमें प्रधानतः वैदिक और आगमिक धर्म के आधार पर जैन और बौद्धधर्म के समन्वय का भी प्रयत्न किया गया। भागवत में २४ अवतारों में ऋषभदेव और बुद्ध की भी गणना की गयी है। विष्णु के दस अवतारों में बुद्ध को स्थान देना और संकल्प वाक्य में 'बौद्धावतारे' का हिमालय से कन्याकुमारी तक निर्विवाद रूप से स्थान पाना श्रीकृष्ण की उस समन्वयात्मक दृष्टि का ही फल था।

जैन और बौद्ध धर्म का विकास जनधर्म के रूप में हुआ था। इसके विपरीत वैदिक धर्म केवल उच्च वर्ग को अधिकार देता था। जनता में इसका टिकना कठिन हो जाता, यदि आगमिक धर्म के साथ विशेषतया पांचरात्र दृष्टिकोण के साथ इसने समझौता न किया होता। भारतीय जनमानस में वैष्णव धर्म को यह ऊंचा स्थान इसी समन्वय के कारण मिला। इसको न हम वैदिक ही कह सकते हैं और न आगमिक ही, आज का भारतीय धर्म उभय संस्कृतियों से ही नहीं, जैन और बौद्ध संस्कृति की उदात्त भावनाओं से अनुप्राणित है।

शंकराचार्य ने इस धर्म को शुद्ध वैदिक रूप देने का और जनता में ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा का महनीय प्रयास किया, किन्तु उनको भी परवश होकर कहना पड़ा "सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्"। शुष्क ज्ञान जनता का धर्म नहीं हो सकता था। जनता को ऐसा धर्म चाहिये था, जो कि उनके हृदय को छू सके। भक्ति मार्ग ही उनकी इस आकांक्षा की पूर्ति कर सकता था। इसके लिए वह भी आवश्यक था कि इसका उपदेश जनता की भाषा में हो। बौद्ध धर्म का प्रथम उपदेश पालि भाषा में और जैन धर्म का प्राकृत भाषा में हुआ था। धीरे धीरे इन धर्मों का जनता से सम्बन्ध हटने लगा और विद्वानों में परस्पर शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद की आकांक्षा की पूर्ति के लिए सस्कृत में ग्रन्थों की रचना होने लगी। इस बात को तत्कालीन सन्तों ने समझा और जनता की आकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने जनभाषा में ही अपने मनोभावों को व्यक्त करना आवश्यक माना। इस प्रकार के सन्तों में तमिल आलवारों का बहुत ऊंचा स्थान है।

तमिल आलवारों की भक्तिभाव पूर्ण रचनाओं से पाठक पूर्णतया परिचित होंगे। इनका प्रेरणा स्रोत पांचरात्र आगम और गुप्तकाल का पौराणिक वाङ्मय था। पांचरात्र आगम की परवर्ती संहिताएं दो मुख्य विभागों में बट गयी थीं। इनमें से एक में श्रीकृष्ण परब्रह्म के रूप में वर्णित हैं और दूसरी में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम। इन्हीं के आधार पर इन आलवारो में भी मुख्य दो विभाग हैं। कुछ श्रीकृष्ण के उपासक हैं और अन्य श्रीराम के। बौद्ध और जैन परम्परा के समान तमिल आलवारों की परम्परा में भी नाथमुनि यासुन और रामानुज जैसे आचार्य हुए, जिन्होंने कि जनभाषा का सहारा न लेकर संस्कृत में ग्रन्थों की रचना की। लेकिन रामानुज के शिष्य दो भागों में बंट गये। कुछ ने आचार्यों के ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में ही टीका-टिप्पणी करना अंगीकार किया, लेकिन अन्य मनस्वी शिष्यों ने आलवारों के पथ का अनुवर्तन कर तमिल भाषा में ही रचना करते हुए जनता से सम्पर्क बनाये रखा। रामानुज

के प्रसिद्ध शिष्य कूरेश की इस परम्परा में ही स्वामी राघवानन्द के शिष्य स्वामी रामानन्द का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कि पूरे उत्तर भारत को मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की भक्ति से आप्लावित कर दिया। इस पृष्ठभूमि में स्वामी रामानन्द का अध्ययन होना अभी बाकी है। इसके अभाव में स्वामी रामानन्द का ठीक मूल्यांकन नहीं हो सकता और उन पर कुछ अनुचित आक्षेप कर दिये जाते हैं।

पांचरात्र आगम और तमिल आलवारों की रामधारा का विकास जन भाषा में जैसे उत्तर भारत में काशी में आकर हुआ, उसी प्रकार कृष्णधारा का विकास मथुरा-वृन्दावन में हुआ। वहाँ से वह बंगाल में पहुंची। महाराष्ट्र और गुजरात में होकर ही इनका उत्तर भारत में प्रवेश हुआ था। कृष्णधारा के साथ हम भागवत पुराण को भुला नहीं सकते। बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों पर इसका अक्षुण्ण प्रभाव है ही, निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे। वर्तमान समय के महान् सन्त महात्मा गाँधी भी इसी परम्परा से अनुप्राणित थे। गुजरात के सन्त कवि नरसी मेहता का "वैष्णव जन तो तेने कहिये" इनका प्रिय भजन था। आज के विरोधाभासों में समन्वय स्थापित करने में ही इनको अपने जीवन तक की आहुति देनी पड़ी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कर्म और ज्ञान मार्ग का भक्ति से समन्वय करके लोकनायक श्रीकृष्ण ने जिस समन्वयात्मक धर्म की ज्योति जगायी थी, सुदीर्घकाल और परिस्थितिजन्य झंझावातों से टक्कर लेती हुई वही ज्योति आन्तरिक और बाह्य आक्रमणों से त्रस्त भारतीय आत्मा को अब तक प्रकाश देती रही है और भविष्य में भी यही समन्वयात्मक दृष्टि आज भारत में वर्गवाद, भाषावाद और प्रान्तीयतावाद से उत्पन्न विभीषिकाओं तथा आधुनिक सभ्य जगत् में व्याप्त स्वार्थपरता, संकीर्णता और वैमनस्य को दूर करने का सामर्थ्य रखती है। यह महान् विभूति समय रहते हममें इस दृष्टि का पुनः उन्मेष करे।

———

[1]भागवत की तत्त्वसमन्वय प्रक्रिया

भागवत भक्तिमार्ग का प्रतिपादक एक महान् ग्रन्थ है ही, साथ ही पुराणों में साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से भी इसका अपना महत्व है। "विद्यावतां भागवते परीक्षा" इस आभाणक के अनुसार यह ग्रन्थ पांडित्य की कसौटी माना गया है। भागवत सम्प्रदाय का ग्रन्थ होते हुए भी इसमें भारतीय धर्म और विचारों के समन्वय का महान् प्रयत्न किया गया है। भगवान् बुद्ध और ऋषभदेव की इसमें विष्णु के अवतारों में गणना की गयी है। इसी ग्रन्थ के एकादश स्कन्ध के २२वें अध्याय में वर्णित तत्त्वसमन्वय प्रक्रिया की चर्चा करने के लिये यह लघु प्रयास किया जा रहा है।

तत्त्व भारतीय दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। जिन पदार्थों या जिस सामग्री से जगत् की रचना होती है उसे तत्त्व की संज्ञा दी गयी है। सीधे सादे शब्दों में उस सामग्री का नाम तत्त्व है, जिससे इस जगत् की रचना होती है, सृष्टि का प्रारम्भ और विकास होता है। विभिन्न दर्शनों में अपने अपने दृष्टिकोण के अनुसार इन तत्त्वों का विवेचन किया गया है। इनकी संख्या के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों में भारी मतभेद था। यही समस्या भागवत के उद्धव के सामने थी। विभिन्न वादों से चकरायी हुई उनकी बुद्धि कुछ निर्णय नहीं कर पा रही थी। अपनी इस मनःस्थिति को वे भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख रखते हैं:—

> कति तत्त्वानि विश्वेश संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
> नवैकादश पच त्रीण्यात्थ त्वमिह शुश्रुम ॥

---

१. गीताधर्म, वाराणसी, रजत जयन्ती विशेषांक (व० २५, अ० १-२, पृ० १७६-१८३, जनवरी-फरवरी, सन् १९६०) में प्रकाशित।

केचित् षड्विंशतिं प्राहुरपरे पंचविंशतिम् ।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ।।
केचित् सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।
(भागवत, ११।२२।१-३)

इसके आगे उद्धव की इस शंका का इस अध्याय के २५वें श्लोक तक श्रीकृष्ण ने समाधान किया है। वे कहते हैं कि इन विभिन्न वादों की प्रवृत्ति का कारण अहंभाव है। प्रत्येक वादी अपने मत को उचित और दूसरे के मत को दूषित समझता है। इसीलिये इन विभिन्न वादों का जन्म हुआ है। विभिन्न वादों के अनुसार तत्त्वों का परिचय देने के बाद वे इस प्रकरण का निम्न प्रकार से उपसंहार करते हैं।—

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्वाद्विदुषां किमशोभनम् ।।

भागवत के समान ही अहिर्बुध्न्यसहिता के आठवें अध्याय के प्रारम्भ में तत्त्वों की विभिन्न संख्या मानने वाले वादों की चर्चा है :—

केचित् त्रैभूतिकीं सृष्टिं ब्रुवते तत्त्ववादिनः ।
चतुर्भूतमयीमन्ये केऽप्यन्ये पांचभौतिकीम् ।।
तां षड्धातुमयीमेके सप्तधातुमयीं परे ।।
अष्टप्रकृतिकां केचिन्नवप्रकृतिकां परे ।
दशतत्त्वमयीमेके केचिदेकादशात्मिकाम् ।।
एवमुच्चावचां संख्यां तत्त्वप्रकृतिगोचराम् ।
वदन्ति मुनयः सिद्धा देवा वेदास्तथैव च ।।
(अहि० ८।२-५)

यहाँ विभिन्न संख्याओं के साथ भूत, धातु, प्रकृति और तत्त्व इन चार शब्दों का प्रयोग हुआ है। इन चारों शब्दों का एक ही अभिप्राय है, तो भी ये शब्द उस परम्परा और विभिन्न वादों के साथ इनकी निकटता के सूचक हैं, जिनका उल्लेख यहाँ और भागवत के पूर्वोक्त स्थल पर किया गया है। भागवत में भी इस प्रकरण में 'धातु' और 'प्रकृति' शब्द का उन उन संख्याओं के साथ उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि किसी वाद में तत्त्वों की 'भूत' शब्द से, कहीं 'धातु' और कहीं 'प्रकृति' शब्द से व्याख्या की गयी है। 'चरक संहिता' शारीरस्थान के पहले अध्याय में पुरुष को षड्धातुमय और चतुर्विंशति

धातुमय कहा है। यहाँ धातु शब्द का प्रयोग 'तत्त्व' के अर्थ में ही हुआ है।

भागवत की इस तत्त्वसमन्वय प्रक्रिया का, 'मेरी माया शक्ति ही विभिन्न वादों की जननी है' इस चेतावनी के बाद भी, टीकाकारों के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भागवत पर अनेक टीकाएं उपलब्ध हैं। ये अधिक अंश में रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और चैतन्य इन पांच वैष्णव-सम्प्रदायों में से किसी एक का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस प्रकरण की भी इन साम्प्रदायिक टीकाकारों ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुरूप ही व्याख्या की है। इन टीकाओं के परिशीलन के बाद भावगवतकार को क्या अभीष्ट है, यह जानने का प्रयास किया जा रहा है।

भागवत में ही एक दूसरे स्थल (११।१६।१४) पर २८ तत्त्वों का उल्लेख है। भागवतसम्मत तत्त्वों की संख्या यही है। इसीलिए उक्त उद्धरण के आरम्भ में ही उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं कि 'आपने २८ तत्त्व गिनाये हैं, यह मैंने सुना है।' इन दोनों ही स्थलों पर प्रकृति, पुरुष, महत्, अहंकार, पंच तन्मात्रा, एकादश इन्द्रिय, पांच महाभूत और तीन गुण इन २८ तत्त्वों का उल्लेख है। इस सम्वन्ध में अधिकांश टीकाकार एकमत हैं। चैतन्यमतानुयायी विश्वनाथ चक्रवर्ती ने ११।१६।१४ में इसी क्रम को माना है, किन्तु यहाँ (११।२२।१) प्रकृति को न गिनकर उसके स्थान में ईश्वर की गणना की है और कहा है कि यहाँ प्रकृति के स्थान में तीन गुणों का ही ग्रहण किया गया है :—"अत्र प्रकृतिस्थाने त्रयो गुणा एव गृहीताः"। विश्वनाथ चक्रवर्ती का यह मत पांचरात्र सम्प्रदाय के अधिक निकट है। पांचरात्र संहिताओं में सांख्य के समान प्रकृति को नित्य नहीं माना गया है। यहाँ सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। इस प्रकार प्रकृति एक पृथक् तत्त्व न होकर त्रिगुणरूप ही है। यही बात विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यहाँ कही है। ११।१६।१४ में विश्वनाथ चक्रवर्ती ने प्रकृति और त्रिगुण दोनों की २८ तत्त्वों में गणना की है और ईश्वर को छोड़ दिया है। यह निरूपण ११। २२।१ के व्याख्यान के विरुद्ध पड़ता है। ऐसा क्यों हुआ, यह एक विचारणीय विषय है। इस स्थल की पाण्डुलिपियों को देखने के बाद ही, इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा जा सकता है। भागवत ११।२२ १४ और २४ में नौ तत्त्वों को गिनाते समय प्रकृति का ही ग्रहण किया गया है, ईश्वर का नहीं। इस प्रकार विश्वनाथ चक्रवर्ती का प्रकृति के स्थान पर ईश्वर को

स्वीकार करना भागवत के उक्त स्थलों के विरुद्ध होते हुए भी पांचरात्र-सम्मत है।

विशिष्टाद्वैती वीरराघवाचार्य ने इस (११।२२।१) श्लोक का अर्थ किया है कि कुछ ऋषि नौ तत्त्व, कुछ एकादश और अन्य पांच तत्त्व मानते हैं, आप (श्रीकृष्ण) तीन तत्त्वों का (ब्रह्म, चित् और अचित् का) उपदेश करते हैं। इसके विपरीत ११।१६।१४ का अर्थ करते समय २८ भावों की गणना की है। प्रथम नौ भावों में इन्होंने और सुदर्शनाचार्य ने शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विसर्ग, शिल्प, गति और उक्ति की गणना की है। वीरराघव ने बतलाया है कि वीर्य के उत्सर्ग और मल-मूत्र के उत्सर्ग को एक ही क्रिया मानने से यहाँ पर नौ संख्या का निर्देश किया है।

परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थान-त्रयी के साथ भागवत को भी सम्मिलित कर प्रस्थान-चतुष्टयी का प्रामाण्य स्वीकार किया है। यद्यपि रामानुजाचार्य के किसी भी ग्रन्थ में भागवत का एक भी उद्धरण नहीं मिलता, किन्तु बाद में भागवत के आधार पर भी विशिष्टाद्वैत की स्थापना का प्रयास किया गया। सुदर्शन सूरि और वीरराघव की ऊपर की व्याख्या में इसी प्रयास की झलक मिलती है।

११।२।३-४ में छब्बीस, पच्चीस, सात, नौ, छः, चार, ग्यारह, सत्रह, सोलह और तेरह तत्त्ववादी सिद्धान्तों का उल्लेख है और बाद के श्लोकों में इनका निरूपण तथा गणना की गयी है। 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में भी तीन से लेकर ग्यारह तत्त्वों की चर्चा है, किन्तु भागवत के समान वहाँ इनका विवरण नहीं दिया गया। भागवत में थोड़ा सा विवरण होने पर भी तत्त्वों की इन विभिन्न संख्याओं को मानने वाले कौन-कौन आचार्य, सम्प्रदाय या दर्शन थे, यह स्पष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त अन्य स्थलों पर सत्ताईस, इकत्तीस, बत्तीस और छत्तीस तत्त्वों का उल्लेख भी मिलता है। यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। यहाँ सक्षेप में संख्या-क्रम से तत्त्वों के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जाता है।

अद्वैतवादी दार्शनिकों के यहाँ एक ही परम तत्त्व है। वह ब्रह्म, पर वासुदेव, शिव या शक्ति के नाम से विभिन्न दर्शनों में अभिहित है। द्वैतवादी दार्शनिक ईश्वर और जीव इन दो भिन्न तत्त्वों को मानते हैं। इन दो के साथ प्रकृति को मिलाने पर यह संख्या तीन हो जाती है। इसी को मन्त्रिकोपनिषद् में "अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तम्" इस प्रकार कहा गया है। यही

वचन कुछ पाठभेद के साथ चूलिकोपनिषद् में भी मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् (६।४) में पृथिवी, जल और तेज इन तीन भूतों को ही सृष्टि का कारण माना है। वेदान्त की 'त्रिवृत्करण-प्रक्रिया' में इस सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हुई है। दूसरे स्थल (७।२६।२) पर ब्रह्म के एकधा, त्रिधा, पंचधा, सप्तधा, नवधा और एकादशधा प्रविभक्त होने का उल्लेख है। कुछ आचार्य तीन गुणों को ही जगत् का कारण मानते हैं। रामानुज और निम्बार्क के मत में ब्रह्म, चित् और अचित् ये तीन तत्त्व हैं। रामानुज मतानुयायी सुदर्शन सूरि और वीरराघवाचार्य तथा निम्बार्क-मतानुयायी शुकदेव ने भागवत के इस प्रकरण की व्याख्या करते हुए यही प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया है।

चार्वाक चार भूतों से सृष्टि मानते हैं। इनके मत से आकाश की सत्ता नहीं है। 'पालि-आम्नाय' में आकाश की गणना महाभूत या धातु में नहीं की गयी है। यहाँ भी चार ही महाभूत हैं। बाद के साहित्य में इसका असंस्कृत धातु में समावेश किया गया है। बुद्धकाल के कुछ अन्य जड़वादी दार्शनिक भी चार ही भूत मानते थे। भागवत (११।२२।२१) में चार तत्त्वों में तेज, जल, अन्न और आत्मा की गणना की है। इस गणना में छान्दोग्य उपनिषद् के तीन भूतों के साथ आत्मा को मिला दिया गया है।

पांच भूतों से सृष्टि उपनिषदों में अनेक स्थलों पर बतलायी गयी है। वेदान्त की पंचीकरण प्रक्रिया का यही आधार है। भागवत के प्रस्तुत अध्याय में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं है। २८ तत्त्वों की गणना के समय 'पंच' शब्द से पांच तन्मात्राओं या पांच महाभूतों का टीकाकारों ने परिगणन किया है। ११।२२।१३ की व्याख्या करते हुए निम्बार्क मतानुयायी शुकदेव ने ब्रह्म, चित् और अचित् के साथ काम और स्वभाव की गणना कर पांच तत्त्व माने हैं। ११।२२।२५ की व्याख्या में वीरराघव ने तेज, जल, अन्न, आत्मा और वायु ये पांच तत्त्व माने हैं।

भागवत (११।२२।२०) के अनुसार छः तत्त्व पंच महाभूत और आत्मा हैं। इसी को अन्यत्र 'आत्मषष्ठवाद' कहा गया है। चरकसंहिता, शारीरस्थान १।१६ में इसका निरूपण हुआ है। यहीं पांचवें अध्याय में पूरे जीव-जगत् को षड्धातु-समुदाय कहा है। अहिर्बुध्न्यसंहिता (८।३) में जगत् को षड्धातुमय मानने वाले मत का उल्लेख है। नागार्जुन की 'माध्यमिक वृत्ति' में चार महाभूत, आकाश और विज्ञान को षड्धातु कहा गया है। भागवत में प्रदर्शित षड्धातुवाद आयुर्वेदविज्ञों का प्रतीत होता है। 'सुश्रुतसंहिता' (शारीर-

स्थान १।११) में स्वभाव, ईश्वर, काल, यदृच्छा, नियति और परिणाम ये छः तत्त्व माने हैं। यहाँ कहा गया है कि यह मान्यता केवल आयुर्वेद की है। इनमें से स्वभाव, ईश्वर, काल और नियति अन्यत्र भी कई दर्शनों में तत्त्वरूप से परिगणित हैं। यदृच्छा का उल्लेख श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।२) में मत-विशेष के रूप में है।

भागवत (११।२२।१६) में पंच महाभूत, ज्ञान और आत्मा ये सात धातु गिनाये गये हैं। टीकाकारों ने यहाँ ज्ञान और आत्मा का जीवात्मा और परमात्मा अर्थ किया है। यह मत भी आयुर्वेदविदों का प्रतीत होता है। यद्यपि चरकसंहिता के उक्त स्थल में चेतना धातु ही पुरुष माना गया है, तथापि ज्ञान और आत्मा को पृथक्-पृथक् तत्त्व मानने वाला भी कोई मत इनमें संभावित है। भागवत ११।२२।१३ में कुछ तत्त्वों का उल्लेख कर, उनका २८ परिगणित तत्त्वों में अन्तर्भाव किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इनको पृथक् तत्त्व मानने वाले मतान्तर उस समय प्रचलित थे। इस श्लोक का भी व्याख्याकारों ने पृथक्-पृथक् व्याख्यान किया है। अधिकांश व्याख्याकारों ने केवल काल और स्वभाव को ही पृथक् तत्त्वा तर मानकर उनका अन्तर्भाव किया है, कुछ ने केवल काल का ही। कुछ ने सूत्र को भी पृथक् तत्त्व माना है। श्रीधर स्वामी ने यहाँ ज्ञानादि तत्त्वों का यथायोग्य अन्तर्भाव बताया है। राधारमण गोस्वामी ने यहाँ के ११वें श्लोक की व्याख्या करते हुए ज्ञान के पृथक्त्व की शंका का उत्थापन किया है। यद्यपि श्रीधर स्वामी ने अर्थ स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु उनकी पद्धति से इस श्लोक का अर्थ होता है कि ज्ञान का सत्त्व में, कर्म का रज में, अज्ञान का तम में अन्तर्भाव होता है। काल गुणों का ही एक व्यतिकर है और स्वभाव सूत्र अर्थात महतत्त्व है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता' (१।७) में काल, स्वभाव और कर्म को जगत् का कारण मानने वाले मतों का उल्लेख किया है और 'भट्टोत्पल' ने अपनी व्याख्या में इन मतों का संक्षेप में निरूपण किया है। वल्लभ-मतानुयायी पुरुषोत्तम ने 'प्रस्थान-रत्नाकर' के प्रमेय-प्रकरण में प्रमेय की स्वरूपकोटि में अक्षर के साथ काल, स्वभाव और कर्म का भी अन्तर्भाव किया है। इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान को भी पृथक् तत्त्व मानने वाले मत भागवतकार के सामने रहे होंगे। सम्भवतः जान को पृथक् तत्त्व मानने वाला मत आयुर्वेद का ही होगा, क्योंकि इस मत के साथ भागवत और अहिर्बुध्न्य-संहिता दोनों में धातु शब्द का व्यवहार हुआ है। यह मत बौद्धों का भी हो सकता है, क्योंकि नागार्जुन ने माध्यमिक वृत्ति में पांच महाभूत और विज्ञान

को षड्धातु कहा है। विज्ञान ज्ञानस्वरूप ही है। 'शिवोपनिषद्' (१।१२) में अज्ञान को पचीसवां तत्त्व माना है। पालि आम्नाय में पकुध कच्चायन और अन्य दार्शनिकों के सप्तकायवाद की चर्चा है। सप्तकायवाद में चार महाभूत, आत्मा, सुख और दुःख ये सात तत्त्व माने गये हैं।

अष्टतत्त्ववादी सिद्धान्त का उल्लेख भागवत में नहीं है, किन्तु अहिर्बुध्य-संहिता (८।४) में यह उल्लिखित है। इस सख्या के साथ वहाँ प्रकृति शब्द का प्रयोग हुआ है। यह सिद्धान्त गीता (७।४) में उपलब्ध होता है। यहाँ पांच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार को अष्टधा भिन्ना प्रकृति कहा गया है। अन्यत्र आठ प्रकृति, महत्, अहंकार और पांच तन्मात्राओं का ग्रहण किया जाता है। चरकसंहिता शारीरस्थान (१।१७) में इनको अष्टधातु की प्रकृति कहा गया है। गीता में प्रकृति के स्थान में मन को ग्रहण कर इन आठों को सम्मिलित रूप से 'अपरा प्रकृति' कहा है। भागवत (११।२२।२४) में नौ तत्त्वों का परिगणन करते समय आठ प्रकृतियों का उल्लेख हुआ है। वह निरूपण गीतासम्मत ही प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ अष्ट-प्रकृति के अति-रिक्त नवम तत्त्व आत्मा ही है, जिसे कि गीता (७।५) में 'जीवभूत, पराप्रकृति' कहा है। प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रन्थों के अवलोकन से प्रतीत होता है कि उस समय के दार्शनिकों ने चार भूतों को निर्विवाद रूप से मान लिया था। आकाश, काल और दिक् को तत्त्व मानने के सम्बन्ध में परस्पर विवाद था और इन तीनों को तत्त्व रूप से अंगीकार करने वाले दार्शनिक प्रबल युक्तियों के आधार पर इनकी स्थापना कर रहे थे। इन्हीं सात तत्त्वों की पृष्ठभूमि में आत्मा और मन को भी सम्मिलित कर वैशेषिकों ने नौ द्रव्यों की स्थापना की। वैशेषिकों के समान प्रभाकर भी नौ द्रव्य मानते हैं। भागवत में उद्धृत नवतत्त्ववाद यही प्रतीत होता है।

दशतत्त्ववादी सिद्धान्त भी भागवत में उल्लिखित नहीं है। अहिर्बुध्न्य-संहिता (८।४) में इसका उल्लेख है। इस सिद्धान्त को मानने वाले कौन थे और ये दस तत्त्व कौन-कौन से थे, यह एक विचारणीय विषय है। कुमारिल ने वैशेषिकों के नौ द्रव्यों के साथ तम और शब्द की भी द्रव्यों में गणना की है। इस प्रकार कुमारिल के मत में ११ द्रव्य हैं। मीमांसकों ने वेद की नित्यता स्थापित करने लिए शब्द को नित्य, अत एव द्रव्य माना है। वैशेषिकों और मीमांसकों के बीच ऐसे भी दार्शनिक रहे होंगे, जो कि शब्द को द्रव्य न मानते

हुए भी तम को द्रव्य मानते हों। वैशेषिक ग्रन्थों में तमोद्रव्यवाद का खण्डन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता (८।४) में एकादश संख्या से आगे तत्त्वों का परिगणन नहीं किया गया है। भागवत (११।२२।२४) में एकादश तत्त्वों ५ भूत, ५ इन्द्रिय और आत्मा की गणना की गयी है। इसी प्रकार ११।२२।२३ में ५ भूत, ५ इन्द्रिय, मन और आत्मा ये तेरह तत्त्व माने हैं। यहाँ यह संख्या १२ ही होती है। टीकाकारों ने जीवात्मा और परमात्मा इस प्रकार द्विविध आत्मा का ग्रहण कर इस संख्या को पूरा किया है।

वहीं (११।२२।२२-२३) श्लोकों में सोलह और सत्रह तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है। सत्रह तत्त्व हैं—५ भूत, ५ तन्मात्रा, ५ इन्द्रिय, आत्मा और मन। सोलह तत्त्वों की मान्यता में मन का आत्मा में ही अन्तर्भाव माना गया है। प्रश्नोपनिषद् (६।१) में पुरुष को षोडशकल कहा गया है और (६।४) में प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम ये पुरुष की सोलह कलाएं बतायी गयी हैं। इन सोलह कलाओं के साथ पुरुष स्वयं सप्तदश होता है। भागवत के उक्त निरूपण का आधारस्थल कोई दूसरा ही है।

निम्बार्क-मतानुयायी शुकदेव ने ११।२२।१४-१५ की व्याख्या करते हुए कहा है कि यहाँ बीस तत्त्व मानने वाले पक्ष का निरूपण किया गया है। इस पक्ष को अन्य किसी टीकाकार ने नहीं दिखाया है। वास्तव में यहाँ इस अध्याय के प्रथम श्लोक में परिदर्शित नौ और ग्यारह तत्त्वों का परिगणन किया गया है। पांच तत्त्व (पंचमहाभूत या पंचतन्मात्रा) और तीन तत्त्व (त्रिगुण) प्रसिद्ध हैं, अतः उनका उल्लेख नहीं किया गया। आगे श्लोक में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के दस विषयों का निरूपण है, किन्तु विभिन्न टीकाकारों ने इस श्लोक के विभिन्न अर्थ किये हैं। श्रीधर स्वामी ने कहा है कि पूर्वार्द्ध में पांच तत्त्वों का निरूपण किया है और उत्तरार्द्ध में कर्मेन्द्रियों के फलों का। चैतन्य मतानुयायी जीव गोस्वामी और विश्वनाथ ने भी यही व्याख्या की है। इसके विपरीत विजयध्वज और शुकदेव ने इस श्लोक की ठीक व्याख्या की है। माध्व मत में परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्ब ये वीस द्रव्य माने गये हैं।

प्रकृति आदि २४ जड़ तत्त्व और चेतन पुरुष को लेकर २५ तत्त्वों का निरूपण सांख्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ सांख्यकारिका में हुआ है। पुराणों के निरीश्वर सांख्य में भी इनका विस्तार से वर्णन है। योगसूत्र, महाभारत और पुराण आदि के सेश्वर सांख्य में ईश्वर को लेकर २६ तत्त्वों का निरूपण है। माण्डूक्यकारिका (२।२६) और मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१।४) में इनकी चर्चा है। महोपनिषद्, नारदपरिव्राजकोपनिषद् और नारायणपूर्वतापिनी में २५ ही तत्त्वों का निरूपण है। सामरहस्योपनिषद् महाविष्णु को २६वां तत्त्व मानती है। मन्त्रिकोपनिषद् और तूलिकोपनिषद् में २६ तत्त्वों के साथ सप्तविंश तत्त्व की भी चर्चा है। शिवोपनिषद् (१।११-१३) में प्रकृति सहित २४ जड़ तत्त्वों को 'पाश' कहा गया है। पचीसवां तत्त्व अज्ञान है, जो कि पाशजाल का मूल अज्ञ जीव 'पशु' कहलाता है और सारे जगत् का स्वामी शिव सत्ताईसवां तत्त्व है। चूलिकोपनिपद् के टीकाकार नारायण (आनन्दाश्रम, पृ० २७३) उपर्युक्त सेश्वर मांख्य के २६ तत्त्वों में चित्त का समावेश कर सत्ताईस संख्या पूरी करते हैं। संभवतः शिवोपनिषद् से वे परिचित नहीं थे। वीरराघवाचार्य ने (११।२२।१३) की व्याख्या में और सुदर्शनाचार्य ने (११।२२।१८) की व्याख्या में चूलिकोपनिषद् और मन्त्रिकोपनिषद् की "सप्तविंशमथापरे" इस श्रुति को उद्धृत कर काल को सत्ताईसवां तत्त्व माना है।

भागवतसम्मत २८ तत्वों का ऊपर निरूपण हो चुका है। वल्लभ मतानुयायी पुरुषोत्तम ने प्रस्थान-रत्नाकर के प्रमेय प्रकरण में प्रमेय के तीन भेद किये हैं :—स्वरूपकोटि, कारणकोटि और कार्यकोटि। स्वरूपकोटि में अक्षर, काल, कर्म और स्वभाव का परिगणन किया गया है। कारणकोटि में भागवत परिगणित २८ तत्त्वों का अन्तर्भाव है। यह ग्रंथ अधूरा ही उपलब्ध हुआ है, अतः कार्यकोटि में किनकी गणना की गयी है यह ज्ञात नहीं होता।

अहिर्बुध्न्यसंहिता में शुद्धेतर-सृष्टि-प्रकरण (६ अध्याय) में कूटस्थ पुरुष और त्रिगुण के बीच शक्ति, नियति और काल इन तीन तत्वों की गणना की गयी है। काल से क्रमशः सत्त्व, रज और तम की सृष्टि होती है। इन्हीं तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा गया है। प्रकृति यहाँ त्रिगुण से पृथक् तत्त्व नहीं है, जैसा कि भागवत में बताया गया है। इस प्रकार अहिर्बुध्न्यसंहिता के मत से ३० तत्त्व होते हैं। शुद्ध सृष्टि का इसमें समावेश नहीं है।

माण्डूक्यकारिका (२।२६) में ३१ तत्त्ववादी मत का उल्लेख है। इसके भाष्य में बताया गया है कि सांख्यसम्मत २५ तत्त्वों के साथ राग, अविद्या,

नियति, काल, कला और माया इन छः तत्वों का और समावेश करने से यह संख्या पूरी होती है। भाष्य से ही यह भी ज्ञात होता है कि यह मत पाशुपतों का था। शैव आगम में ३६ तत्त्व माने गये हैं। उक्त ३१ तत्त्वों के अतिरिक्त इनमें शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या ये पांच तत्त्व और परिगणित होते हैं।

ऊपर प्रस्थान-रत्नाकर के स्वरूपकोटि में चार तथा कारणकोटि में २८ इस प्रकार ३२ तत्व गिनाये गये हैं। कार्यकोटि में कितने प्रमेय परिगणित थे, ग्रन्थ के अपूर्ण रहने से यह ज्ञात नहीं होता। इसलिए इनके मत से कितने तत्त्व थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। माध्व-मतानुयायी विजयध्वज ने भागवत (११।२२।१७) की व्याख्या में ३४ तत्त्वों का प्रतिपादन किया है और कहा है कि यही भागवत का मत है।

परब्रह्मोपनिषद् में प्रसंगवश तत्वों की षण्णवति (९६) संख्या का उल्लेख है और माण्डूक्यकारिका (२।२६) कहती है कि किसी का मत है कि तत्व अनन्त हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञान में तत्वों की संख्या परब्रह्मोपनिषद् की संख्या के आस-पास ही है। वेद में आधुनिक विज्ञान की खोज करने वालों के लिए इस प्रसंग में परब्रह्मोपनिषद् से बड़ी मदद मिल सकती है।

भागवत और अहिर्बुध्न्यसंहिता की तत्वसमन्वय प्रक्रिया का अवलोकन करते हुए प्रसंगवश यहाँ भारतीय दर्शनों में विभिन्न दृष्टिकोणों के आधार पर प्रतिपादित तत्वों की विभिन्न संख्याओं का निरूपण किया गया है। कालक्रम के अनुसार इनका विकास हुआ है, यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है। प्राचीन काल में परिगणित कुछ तत्व कई एक आधुनिक दर्शनों में एकदम छोड़ दिये गये हैं, तो कुछ में अभी भी उसी रूप में या रूपान्तर से अंगीकृत हैं। भागवत की प्रक्रिया के आधार पर इनमें सहज समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वास्तव में तत्वसंख्या के सम्बन्ध में ही नहीं, सभी दार्शनिक तथा अन्य विषयों का अध्ययन भागवत की इस समन्वय-प्रक्रिया के आधार पर होना चाहिए। साम्प्रदायिक दृष्टि से इनका अध्ययन करना और किसी विशेष सिद्धान्त पर दर्शन-विशेष का एकान्त आधिपत्य मानना उचित नहीं है। बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि नितान्त भिन्न प्रकृति के दर्शनों पर भी घात-प्रत्याघात से परस्पर एक दूसरे का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस परिस्थिति में वैदिक-संस्कृति, ब्राह्मण-संस्कृति, श्रमण-संस्कृति आदि की मनः प्रसूत उद्भावनाओं के द्वारा भारत के विभिन्न वर्गों में मनोमालिन्य का प्रसार करना

नितान्त अनुचित है। इस दोष का परिशोधन भागवत की इस समन्वयप्रक्रिया के आधार पर संभव है।

परिस्थिति-ों और समय की आवश्यकता के अनुसार विभिन्न भारतीय दर्शनों का विकास हुआ है। ऊपर देखने से इनका सम्वन्ध अहिनकुलवत् परस्पर विरोधी प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। समाज में साधारणतया स्वाभाविक परिवर्तन होता रहता है, किन्तु कभी-कभी क्रान्ति के द्वारा भी सहसा परिवर्तन होता है। क्रान्ति के द्वारा आया परिवर्तन क्षणिक होता है। समाज फिर अपनी सहज गति से चलने लगता है। किन्तु उस पर क्रान्ति अपनी अमिट छाप भी छोड़ जाती है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। लेकिन इस क्रान्ति की उद्भूति भी शनैः शनैः आयी हुई सहज सामाजिक परिस्थितियों से ही होती है। केवल क्रान्ति से चिपके रहना और इस सतत प्रवहमान धारा का साथ न देने वाला पिछड़ जाता है और उसे एकाकीपन महसूस न हो, इसके लिए वह अपने इर्द-गिर्द एक नये रूढ़िवादी समाज की रचना कर लेता है। सम्प्रदायों और नये वर्गों का इसी प्रकार सूत्रपात होता है। आज के कम्यूनिज्म में इसकी परीक्षा की जा सकती है। यूरोप की औद्योगिक परिस्थितियों और उनकी स्वाभाविक गतिशीलता का अध्ययन करने वाले दर्जनों विद्वानों के विचारों की पृष्ठभूमि में कार्ल मार्क्स ने कैपिटल की रचना की और उसके आधार पर रूस में लाल क्रान्ति हुई, क्रान्ति ने अपना काम किया। आज का पूरा समाज उससे प्रभावित है। उस क्रान्ति की अब कहीं आवश्यकता नहीं है। लेकिन एक वर्ग बन गया है, जो कि कैपिटल को किसी धर्मग्रन्थ से नीचा स्थान देने को तैयार नहीं है।

वैष्णव, बौद्ध, जैन तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदाय भी इसी प्रकार क्रान्तियों के सूचक हैं। इन क्रान्तियों के वाद इनके अनुरागियों के विभिन्न वर्ग बन गये, किन्तु समाज सतत गतिशील बना रहा और इन सभी क्रान्तियों की उस पर अमिट छाप पड़ी। भागवतकार ने इन सभी प्रभावों पर अनुकूल प्रतिक्रिया प्रकट की है और सामाजिक गतिशीलता का साथ कभी नहीं छोड़ा। इसीलिए वैष्णव आचार्यों ने इसे उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के साथ चतुर्थ प्रमाणभूत ग्रंथ माना है। भारतीय इतिहास के मध्यकाल पर इसका अक्षुण्ण प्रभाव रहा। आदर्श ग्रंथ के रूप में यह अब भी अपनी समन्वय-पद्धति के आधार पर नवीन भारतीय समाज की दृढ़ आधारशिला सिद्ध हो सकता है।

———

'नयी स्थापनाओं की आधारभूमि

श्रीकृष्ण सन्देश के पांचवें वर्ष के प्रथम अंक में 'पुरानी मान्यताएं नई स्थापनाऐं' शीर्षक विचारोत्तेजक लेख पढ़ने को मिला। इसमें हिन्दू समाज की कुछ सामयिक समस्याओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। इस विषय पर हमारी भी कुछ लिखने की इच्छा हो रही है।

तमिलनाडु और महाराष्ट्र के भूतपूर्व राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश जी चतुर राजनीतिज्ञ एवं गंभीर विचारक हैं। उनका कहना है कि निकट भविष्य में हिन्दू जाति और संस्कृति की वही दशा हो जायगी, जोकि कभी मिश्र, यूनान, रोम और पारसीक देश तथा वहाँ की संस्कृति की हुई थी। इस सामयिक और गंभीर चेतावनी की ओर भारतीय मनीषीवर्ग और आस्तिक जनता को अविलम्ब ध्यान देना चाहिए। जिस जाति (धर्म) ने परतन्त्रता काल के संघर्षमय एक हजार वर्षों में अपने को नहीं मिटने दिया, उसके सामने आज विषम परिस्थिति उपस्थित है। अहंकार अथवा प्रमादवश इसको टाल देने का अब समय नहीं रह गया है। साहस और बुद्धिमत्ता के साथ इसका अविलम्ब सामना किया जाना चाहिए।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटन की ओर बढ़ रही है। देश में धर्म-निरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन है। किन्तु समाज धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदि की भांति-भांति की व्याधियों से ग्रस्त है। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति का न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्र में बहुमत का महत्व है। विभिन्न मतवादों के आधार पर संघटित राजनीतिक दल आज अपना बहुमत बनाने के चक्कर में

---

१. श्रीकृष्ण संदेश मथुरा (व० ५, अ० ३, पृ० २५-३०, अक्टूबर, सन् १९६९) में प्रकाशित।

राष्ट्रीयता अथवा संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की भी उपेक्षा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। इसी देश का एक अंग अब पाकिस्तान के नाम से इससे अलग होकर हिन्दू राष्ट्र को चुनौती देता है और इसे आत्मसात् करने के लिए मोहम्मद गौरी के आक्रमणों से प्रेरणा ले रहा है। वहाँ के शासकों का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की विविधता तथा फूट के कारण कभी न कभी हम अवश्य ही पूरे देश पर अपना वर्चस्व उसी प्रकार स्थापित करने में समर्थ होंगे, जैसे कि एक हजार वर्ष पूर्व इस्लाम के अनुयायियों ने इस देश पर किया था। पाकिस्तान से सहानुभूति रखने वालों की भी संख्या यहाँ कम नहीं है। कुछ ऐसे भी दल हैं, जोकि रूस अथवा चीन से आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और संस्कृति एवं अंग्रेजियत के साथ अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करने वालों का एक बड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है देश की आज आशंकाओं से भरी भयावह परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियां तीव्रता से कार्यरत हैं। हमारी दृष्टि में आज की दूषित राजनीति में इसका कोई समाधान नहीं मिल सकता। इस समस्या के समाधान के लिए हमें सांस्कृतिक धरातल पर ही आगे बढ़ना होगा।

हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईसा मसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आये। पारसियों का बहुत बड़ा समुदाय आज भी उसी प्रकार अपने धर्म और संस्कृति का पालन करता आ रहा है, जैसे कि कभी वह अपने मूल देश ईरान में करता था। आज ईरान इस्लामी धर्म से पूरी तरह आक्रान्त है, किन्तु भारत में वहाँ का प्राचीन धर्म, साहित्य और उसके अनुयायी पूरी तरह सुरक्षित हैं। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है। शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट मत यहाँ आया था और केरल में आज भी उस सम्प्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं। चीनी तानाशाहों से पराभूत होकर तिब्बती जन और वहाँ की सस्कृति यहाँ स्वतन्त्र रूप से फल-फूल रही है, यह घटना तो अभी हाल की ही है। इनके अतिरिक्त विजेता के धर्म के रूप में कभी यहाँ इस्लाम और ख्रीष्ट धर्म का प्रवेश हुआ था। इस प्रकार यह पूरा देश विविध धर्मों और संस्कृतियों का एक अजायबघर सा हो गया है। इतिहास के आरम्भ काल से ही यह राष्ट्र सही अर्थों में धर्म-निरपेक्ष

रहा है। इसीलिए यहाँ विभिन्न विचारधाराओं का समय समय पर संरक्षण और संगमन होता रहा है। इसके मूल में कौन-सी सत्प्रवृत्तियां कार्य कर रही थीं, इस पर हमको गंभीरता से विचार करना चाहिए। इसी में आज की राष्ट्रीय और सांस्कृतिक समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है।

हमारे मत से यह राष्ट्र त्याग, तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार मजबूत पायों पर इतिहास के आरम्भिक काल से ही खड़ा हो गया था। यदि आज भारत राष्ट्र और भारतीय संस्कृति को जीवित रखना है तो इन्हीं मूल मान्यताओं के आधार पर नवीन स्थापनाएं करनी होगी। पुरातन और नूतन के युक्तियुक्त समन्वय से ही हम आज की समस्याओं का समाधान कर सकते हैं, एक सर्वांगपूर्ण भारतीय संस्कृति की नींव डाल सकते हैं।

भारत को एक सुदृढ़ और सबल राष्ट्र बनाने के लिए आज इसमें बसने वाले सभी धर्मों और वर्गों के अनुयायियों में सहिष्णुता और समन्वय की भावना की नितान्त आवश्यकता है। हिन्दू जाति में ये गुण जन्म-जात हैं। किन्तु आजकल धर्मों और वर्गों में असहिष्णुता बढ़ रही है। समन्वय के स्थान पर अलग अलग धर्म और वर्ग अपनी वरीयता स्थापित करने में लगे हैं। तथाकथित प्रगतिशील वर्ग और बौद्ध धर्म के अनुयायी समन्वय के आधार पर स्थापित हो सकने वाली भारतीय संस्कृति का मखौल उड़ाते हैं। उनके मन से बौद्ध-धर्म के आधार पर ही नवीन भारतीय संस्कृति का निर्माण हो सकता है। इसके लिए वे कार्यरत भी हैं। इस प्रकार के लोगों को भारतीय सस्कृति से अधिक विश्व-संस्कृति की चिन्ता है।

विश्व-संस्कृति और एक ही दुनिया की भावना अच्छी है। अमेरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति रुजवेल्ट के भ्रमणशील दूत 'वंडेल विल्की' ने एक पुस्तक लिखी थी 'वन वर्ल्ड' (एक ही दुनिया)। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी वर्षों से इस ओर कार्यरत हैं। भारतीय शास्त्र भी कहते हैं 'वसुधैव कुटुम्बकम्'। किन्तु आज की दुनिया के लिये ये कोरे आदर्श-वाक्य हैं। आज पूरा विश्व विभिन्न गुटों में बंटा हुआ है। एक गुट दूसरे को निगल जाना चाहता है। ऐसी परि-स्थिति में अन्तरराष्ट्रीयता का व्यामोह क्या हमें मिटा नहीं देगा।

सभी छोटे बड़े राष्ट्रों में आज राष्ट्रीयता का जोर है। बड़े सबल राष्ट्र छोटे निर्बल राष्ट्रों को निगल जाना चाहते हैं। रूस, चीन और अमेरिका आज अपनी-अपनी पद्धति से पूरी दुनिया को अपने अधीन करने में लगे हैं।

इस संघर्षशील विश्व में यदि एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में हमें जीवित रहना है, तो एक राष्ट्रीयता और संस्कृति का विकास करना ही होगा। बाहरी राष्ट्रों से ही नहीं, इसके अभाव में हमको भीतरी संघर्ष का भय भी वना रहेगा।

आज विभिन्न वर्ग और समुदाय अपना संख्यावल बढ़ाने में संलग्न हैं। संतति नियमन के कार्यक्रम को एक वर्ग अपने धर्म के विरुद्ध समझता है। असम, बिहार, मध्यप्रदेश आदि राज्यों की जनजातियों में सेवा कार्य के बहाने ईसाई मिशनरियां धर्म परिवर्तन में लगी हुई हैं। 'नागालैण्ड' नाम आज हमको किस दिशा की ओर संकेत कर रहा है ? ईसाई मिशनरियों के समान ही कभी भारतीय प्रबुद्ध वर्ग भारतीय संस्कृति, धर्म और सभ्यता के शान्तिपूर्ण प्रसार के लिए बाहर निकला था। आज वह अपने में ही सिमट रहा है। हिन्दू धर्म से निकलने के लिए आज अनेक मार्ग हैं, किन्तु उसमें प्रवेश के सभी द्वार वन्द कर दिये गये हैं।

जो भी हिन्दुस्तान का नागरिक हो और इस देश के प्रति मातृ-भूमि जैसी निष्ठा रखता हो, वह हिन्दू है, 'अथवा जो कोई मनुष्य सच्चे हृदय से अपने को हिन्दू मानता हो, वह अपने ढंग से हिन्दू समाज में रह सकता है यह एक समयानुकूल उचित दृष्टिकोण है। इसके साथ ही हमको यह सोचना है कि हिन्दू-समाज का ही अंग, असवर्ण नाम से कहा जाने वाला वर्ग आज हमारे साथ क्यों नहीं रहना चाहता ? पारसियों के धर्म-ग्रन्थ 'जेन्दावेस्ता' की इस गाथा को आप देखिये : –

हावनिम् आ स्तुम् आ हओमो उपैत् जरथुश्ट्रम् ।
आत्रम् पइरि-यओजदधन्तम् गाथास् च स्रावयन्तम् ।।
आ दिम् परसत् (जरथुश्ट्रो) को नर अहि ।
यिम् अज्ञम् वोस्पहे अन्धमुम् अस्त्वतो स्त्रारशम् दादरस ।।

थोड़े से वर्णों में नियम बद्ध परिवर्तन कर देने से इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार बनती है —

सवनिम् आ ऋतुम् आ सोम उपैत् जरथुष्ट्रम् ।
अत्रि परि-योस्-दधन्तं गाथाश्च श्रावयन्तम् ।।
आ तं पृच्छत् (जरथुष्ट्रः) को नर असि ।
यमहं विश्वस्य असोः अस्थिवतः श्रेष्ठं ददर्श ।।

इसकी ऋग्वेद की भाषा से आप तुलना कीजिये। हमारी सहोदर संस्कृति के अनुयायी ये पारसीक जन आज यहाँ पर हमारी अपेक्षा, जिन्होंने कि इनके धर्म और संस्कृति को आज तक सुरक्षित रहने दिया, इस्लाम के साथ, जिनके अनुयायियों ने इनके धर्म और संस्कृति को मूलदेश से निष्कासित कर दिया, क्यों नजदीकीपन का अनुभव कर रहे हैं ? हममें से बहुत से लोग तो इनको मुसलमानों का एक वर्ग विशेष ही मानते हैं। भारत और पाकिस्तान के मुसलमानों में भी हमारे पुरखों का ही तो रक्त प्रवाहित हो रहा है। आज भाई-भाई का मिलन क्यों नहीं हो रहा है। हिन्दू धर्म से बाहर गया कोई भी व्यक्ति आज वापस आने को तैयार नहीं है। प्रत्युत स्वतन्त्र भारत में भी निकलने अथवा निकाल ले जाने के इस दुश्चक्र पर कोई अंकुश नहीं लगाया जा सका। ऐसा क्यों ? हमको सच्चे मन से आत्म-निरीक्षण करना होगा। इस सम्बन्ध में दूसरे को दोष देना आत्म-प्रवंचना मात्र होगी। उपनिषद् में ठीक ही कहा है—'अन्धं तमः प्रविशन्ति ये के चात्महनो जना.।' आत्म-प्रवंचना एक प्रकार की आत्महत्या ही है।

हिन्दू शब्द की उक्त परिभाषा की चरितार्थता के लिये हिन्दू धर्म को अपनी संकीर्णता का त्याग करना पड़ेगा, ऋषि-मुनियों के प्राचीन त्याग और तपस्या के मार्ग का एक वार फिर पूरी सचाई के साथ वरण करना पड़ेगा।

हिन्दू धर्म की शौच, स्नान, आचार, खान-पान की जटिल पद्धति का पालन कर पाना साधारण जन के लिए कठिन होता जा रहा है। एक तरफ वह अन्य धर्मों के धार्मिक क्रियाकाण्ड की सरलता को देखता है तो दूसरी ओर अपने धर्माचार्यों को देखता है कि उनकी कथनी और करनी में अन्तर है। दिग्भ्रान्त हो वह भटक जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अथवा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आज केवल पोथी की वस्तु रह गयी है। 'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव' इस आभाणक के रचयिता ने एक कटु सत्य का उन्मीलन किया है। आज अपने गले में नोटों की माला पड़ी देख संन्यासी पुलकित हो उठ ा है। पद-यात्रा और दो या तीन दिन से अधिक एक स्थान पर टिक कर न रहने के नियम का पालन अल्पमात्रा में आज केवल जैन मुनियों में ही देखने को मिलता है। मठाधीश, मन्दिराधीश, मण्डलेश्वर और महामण्डलेश्वरों का वैभव संन्यासी शब्द का उपहास करता प्रतीत होता है। संन्यासी के सामने आज 'पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च

व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' यह उपनिषद् का आदर्श कहां है ? वित्तैषणा और लोकैषणा तो आज गृहस्थ से अधिक संन्यासी के मन में बैठ गयी है।

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

मनुस्मृति के इस उपदेश के अनुसार पाशुपताचार्यों ने अपमान का आह्वान करने के लिए क्राथन, स्पन्दन, मन्दन और शृंगारण का विधान किया था, आज लोकैषणा और वित्तैषणा की पूर्ति के लिए ही सब कुछ किया जा रहा है। ब्राह्मण और संन्यासी बिना पैसा लिये आज न तो प्रवचन ही करना चाहता है और न कुछ लिखना ही चाहता है, जो कभी उसके कर्तव्य-कोटि में आते थे। त्याग और तपस्यामय जीवन की जिनसे सबसे अधिक आशा की जाती है, आज उससे वे बहुत दूर होते जा रहे हैं। आत्म-निरीक्षण की भावना मर गयी है। किसी सूक्तिकार ने ठीक ही कहा है—

अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः।

जब तक हममें निजी दोष-दर्शन अथवा दोष-श्रवण की भावना न आवेगी, तब तक नवीन मान्यताओं की स्थापना कैसे संभव होगी ?

यह प्रसन्नता की बात है कि भारत साधु समाज का गठन धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में न होकर समाज-सेवा के संस्थान के रूप में हो रहा है। समाजसेवा के लिए आज हमें नागा प्रदेश जैसे सीमावर्ती दुर्गम स्थलों में और भारतवर्ष भर में बिखरी हुई, विदेशियों के द्वारा पथभ्रष्ट की जा रही, जन-जातियों में जल्दी-से-जल्दी जाने की जरूरत है। उनमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति का गौरव भरने का यही समय है। राजनीति का एक ही झोंका सवर्ण और असवर्ण की शब्दावली मे विभक्त किये गये हिन्दू-समाज की नाजुक कड़ियों को कभी भी तोड़ सकता है। हमको अब उन्हें भी गले लगाना है, जोकि परिस्थिति अथवा बाध्यतावश हमसे बिछुड़ गये हैं। सभी धर्मों में विचार के धरातल पर समानताएं हैं। उनका सूक्ष्म निरीक्षण करके हमको एक समान जीवन-पद्धति का उसी प्रकार विकास करना पड़ेगा, जैसा कि भगवान् शंकराचार्य ने स्मार्त-धर्म के रूप में वैदिक और अवैदिक धर्मों का समन्वय किया था।

लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष स्वर्गीय मावलंकर ने काशी की एक जनसभा में कहा था कि काशी विश्वनाथ के ज्ञानवापी के कूप में कूद पड़ने की कल्पना परतन्त्रताकाल की ही उपज हो सकती है। ज्योतिर्लिंग में से अथवा चन्द्र-मण्डल से व्यक्तिविशेष के स्पर्शमात्र से देवता निकल जाने की कल्पना उसी

मनोवृत्ति की ओर इंगित करती है। यह प्रसन्नता की बात है कि आज का साधारण भारतीय नागरिक इसको मानने को तैयार नहीं है। स्वयं जो इन आस्थाओं से अभिभूत हैं वे भी उससे आर्थिक लाभ तो उठाते हैं, किन्तु त्याग या कष्ट सहन की जब घड़ियां आती हैं, तो वे पीछे के दरवाजे से निकल भागते हैं।

कुछ त्यागी जन आज की समस्याओं का समाधान राजनीति में खोजते हैं, किन्तु वर्षों के कटु अनुभवों ने उनको बता दिया होगा कि इस मार्ग के उनके सच्चे अनुयायियों की संख्या अत्यन्त ही सीमित है। चन्द्र-सूर्य-ग्रहण, कुम्भ आदि पर्वों पर लाखों की संख्या में एकत्र होने वाली और धार्मिक प्रवचनों में हजारों की संख्या में जुटने वाली श्रद्धालु जनता आज राजनीति में धर्माचार्यों का साथ क्यों नहीं दे रही है ? इसका कारण उनको जनता में न खोजकर अपने में ही खोजना चाहिए।

हमारे मत से यदि हमको हिन्दू-धर्म के प्राचीन स्वरूप को भी बचाना है तो व्यक्तिगत धर्म और सामूहिक धर्म के बीच स्पष्ट सीमा-रेखा खींचनी होगी। सामूहिक धर्म के लिए आज की परिस्थिति के परिप्रेक्ष्य में नवीन मान्यताओं की स्थापना करनी पड़ेगी। धर्मों के बीच सहिष्णुता और समन्वय के माध्यम से यह हो सकता है। हिन्दू-धर्माचार्य लोकैषणा और वित्तैषणा से दूर त्याग और तपस्या के सार्वभौम सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए सांस्कृतिक धरातल पर नवीन सार्वभौम मान्यताओं की स्थापना का त्वरित यत्न नहीं करेंगे तो हिन्दू जाति और भारतीय राष्ट्र का भविष्य अन्धकारमय हो जायगा। समन्वयाचार्य भगवान् श्रीकृष्ण समय रहते हममें नूतन आशा और कल्पना-शक्ति का संचार करें।

———

[1]हिन्दूकरण नहीं, भारतीयकरण

संस्कृत में एक आभाणक प्रसिद्ध है—विप्राः पश्चिमबुद्धयः । इसका सीधा सादा अर्थ है कि ब्राह्मणों को किसी समस्या का समाधान तब सूझता है, जबकि उस समाधान की कोई उपयोगिता ही नहीं रह जाती । हिन्दूकरण की आवाज जब काश्मीर अथवा मेव क्षेत्र से उठी थी तो काशी के पण्डितों ने उसका विरोध किया और आज जब इस प्रकार की कोई समस्या नहीं है तो उसके समाधान की चर्चा उठ रही है । आज वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था में बंधे हुए हिन्दू समाज का वह अमृतरससिंचक स्रोत सूख गया है, जिससे कि अनुप्राणित होकर पूर्व काल के अनेक मानव वंश इसमें समाविष्ट हुए थे । समता और भ्रातृत्व के इस युग में हिन्दू धर्माचार्यों के द्वारा प्रतिपादित हिन्दूकरण प्रक्रिया में अन्य धर्मावलम्वी आज क्यों आना चाहेंगे । अस्पृश्यता की शास्त्रानुमोदितता का विवाद उठाकर हिन्दू धर्माचार्य आज उनको भी वाहर ढकेल ले जाने के लिए तथाकथित राजनीतिज्ञों को अवसर दे रहे हैं । भारतीय संस्कृति की सन्तधारा से प्रभावित होकर ही ये अभी तक हिन्दू समाज के अंग बने हुए हैं । हिन्दू समाज के इस अंग को काटकर अलग कर देने के अंग्रेजों के निकृष्ट प्रयत्न को निष्फल कर देने के लिए महात्मा गांधी को अपने प्राणों की वाजी लगानी पड़ी । किन्तु आज उनके तथाकथित अनुयायी अस्पृश्यता का विवाद उठ खड़ा होने पर सवर्णों को धमकी देते हैं । उस धमकी का सीधा अर्थ है कि उनकी मंशा हरिजन समुदाय को बौद्ध बना देने की है । इस प्रकार का दुष्प्रयत्न स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद एक बार किया गया था, किन्तु तत्कालीन गृहमन्त्री पण्डित गोविन्द वल्लभ पन्त के दृढ़ निश्चय से उसको समय रहते रोका जा सका । हरिजन समस्या का समाधान उनके बौद्ध बना देने मात्र से नहीं हो जायगा । इस धर्मनिरपेक्ष

---

१. दैनिक आज, वाराणसी (२३ अक्टूबर, १९६९) में प्रकाशित ।

राज्य में सशक्त राजनीतिज्ञ किसी एक धर्म की ओर यदि अधिक आग्रहशील हो जायेंगे, तो उससे नवीन जटिल समस्याएं उठ खड़ी होंगी।

भारतीय संस्कृति के अन्दर हिन्दूकरण की प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती, ऐसी कोई बात नहीं है। भारतीय संस्कृति की तान्त्रिक धारा एवं तदनुप्राणित सन्त धारा में मानवमात्र को समान अधिकार प्राप्त हैं। इस धारा में बाह्य और आन्तर भेद से विकसित योग प्रधान और कर्मकाण्ड प्रधान उपासना विधि का शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध और जैन धर्म में समान विकास हुआ है। उपास्य के भेद से इस उपासना पद्धति का और भी विकास किया जा सकता है। ऋषि मुनियों की त्याग और तपस्या की उत्कृष्ट उपासना पद्धति से लेकर आजकल के हिप्पियों को भी आकृष्ट करने वाली विधि का मानव के मानसिक स्तर के अनुसार इसमें विकास हुआ है। ये सभी पद्धतियाँ आत्म-प्रवण हैं। किन्तु प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्माचार्यों की मनःस्थिति इसके लिए अभी तैयार नहीं है। जिस स्थिति के लिये वे तैयार हैं, उसमें हिन्दूकरण की नहीं, भारतीयकरण की प्रक्रिया सम्पन्न हो सकती है। भारतीय प्रजातन्त्र और विश्वशान्ति के विकास के लिए भी हिन्दूकरण की अपेक्षा भारतीयकरण की प्रक्रिया अधिक श्रेयस्कर है।

भारतीयकरण की प्रक्रिया के लिए इतना ही पर्याप्त है कि यहाँ रहने वाले सभी धर्मों, वर्गों और जनजातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति परस्पर सहिष्णु बन जायँ। एक दूसरे को निगल जाने की चेष्टा न करें। इस प्रक्रिया को सम्पन्न कर सकने में हिन्दू धर्माचार्य सबसे आगे हैं। जीओ और जीने दो के सिद्धान्त के आधार पर वे अपना संकीर्ण घेरा बनाकर उसमें सुख से रह रहे हैं। उनकी मनोवृत्ति है—हम किसी को नहीं छेड़ते, हमको भी कोई न छेड़े। सहिष्णुता इनका स्वाभाविक गुण है। 'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः' अर्थात् वेदों की रचना भाड़ों, धूर्तों और राक्षसों ने मिलकर की है, कहने वाले चार्वाक दर्शन को वे दे गुरु बृहस्पति की उक्ति मानते हैं और भारतीय दर्शनशास्त्र में इसका भी अध्ययन अब तक चालू है। क्या भारत में विद्यमान अन्य धर्मों के अनुयायियों में तथा आजकल के प्रगतिशील कहे जाने वाले राजनीतिज्ञों में भी इस भावना का विकास हुआ है ? नहीं में इसका उत्तर मिलेगा। अन्य सम्प्रदायों में जब तक इस सहिष्णुता की भावना का विकास नहीं होता, तब तक हिन्दू धर्माचार्यों के बनाये घेरे को भी तोड़ने का प्रयत्न न किया जाय तो श्रेयस्कर होगा। विगत एक हजार

वर्षों के परतन्त्रता काल में भारतीय संस्कृति की उत्कृष्ट निधियों का संरक्षण इसी घेरे ने अपने प्राणों की भी आहुति चढ़ाकर किया है इस अतिकष्टदायिनी लम्बी यात्रा से थके इस सम्प्रदाय को थोड़ा विश्राम कर लेने का अवसर मिलना चाहिये।

ब्रह्मसूत्रकार आचार्य बादरायण ने तर्क के अप्रतिष्ठित होने के कारण शास्त्र अर्थात् शब्द प्रमाण की शरण लेने का उपदेश दिया है। आज के साम्यवादी समुदाय में भी तर्क की अपेक्षा कम्युनिस्ट साहित्य (शब्द) में गहरी श्रद्धा देखने को मिलती है। प्रायः सम्पूर्ण मानवता पर प्रत्यक्ष और अनुमान की अपेक्षा शब्द (शास्त्र) का अधिक गहरा प्रभाव है, किन्तु भारत में तर्कमूल प्रज्ञा के विकास में शब्द कभी बाधक नहीं बना। इन्द्र, वरुण, नासत्य आदि वैदिक देवताओं का स्थान आज की हिन्दू उपासनापद्धति में गौण हो गया है। उपनिषदों में यज्ञों की कमजोर, जीर्ण शीर्ण नाव से तुलना की गयी है। तर्क के समान ही भारतीय शब्द प्रमाण भी सदा गतिशील रहा है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थों में भी सदा तर्क का सहारा लिया गया है। बौद्ध धर्म की संगीतियों तथा नैमिषारण्य के द्वादश वार्षिक सत्रों में धर्म के नवीन स्वरूप की परिकल्पना साकार होती रही है। प्रज्ञा का यह प्रवाह आज श्रद्धा के हिमश्रथ से अवरुद्ध हो गया है। इसका कारण हमको इसी में खोजना है।

भारत में सदा से त्याग और तपस्या का महत्त्व सर्वोपरि रहा है। यहाँ के गृहस्थ के लिए भी धर्मशास्त्रों में उञ्छशिल और अयाचित वृत्ति का विधान है। कालान्तर में यहाँ मठीय संस्था का विकास हुआ। यह हिन्दू धर्म को बौद्ध संस्कृति की देन है। प्रारम्भ में इस संस्था ने कला और दर्शन के क्षेत्र में आश्चर्यजनक कार्य किया, किन्तु कालान्तर में इसमें जिन दोषों ने प्रवेश किया, वे ही हिन्दू मठ-संस्था को विरासत में मिले।

इसी के कारण भारतीय भक्तिधारा में शृंगार का अत्यधिक प्रवेश हुआ। गुजरात के सम्प्रदाय विशेष में नववधू को प्रारम्भ में आचार्य को समर्पित करने की प्रथा अभी हाल तक प्रचलित रही। भक्तिधारा की यह चरम परिणति थी। त्याग और तपस्या के मार्ग को छोड़कर मठीय ऐश्वर्य के मायाजाल में पड़ जाने पर और हो भी क्या सकता था।

हिन्दू धर्माचार्य आज भगवान् श्रीकृष्ण के गोकुल वृन्दावन के रूप पर मुग्ध हैं। रामायण के मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और महाभारत के राजनायक

श्रीकृष्ण को ये लोग भूल गये हैं। रामभक्ति के रसिक सम्प्रदाय ने जगज्जननी सीता और मर्यादा पुरुषोत्तम राम को भी रसिक शिरोमणि राधा-कृष्ण की कोटि में ला बैठाया है। वास्तव में इसके माध्यम से हिन्दू धर्म में भी उन्हीं तत्त्वों का विकास हुआ है, जोकि बौद्ध धर्म के पतन के कारण हुए। भक्ति-धारा में इस शाखा का अधिकारी विशिष्ट गुणसम्पन्न व्यक्ति विशेष ही माना गया है, साधारण जन नहीं। आज हिन्दू धर्म में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के लोकमंगलकारी और लोकनायक कृष्ण के जटिल समस्याओं के समाधान में संलग्न नेतृत्व के गुणों के विकास की आवश्यकता है।

हिन्दू धर्माचार्य त्याग और तपस्या के मार्ग का पुनः अवलम्बन कर जब मर्यादा पुरुषोत्तम राम और लोकनायक श्रीकृष्ण के चरित से प्रेरणा प्राप्त करने लगेंगे और भारतीयकरण की प्रक्रिया को सम्पूर्ण क्रियान्विति में भारतीय राजनीतिज्ञ बाधक न बनकर इसका कंटकाकीर्ण पथ प्रशस्त करने में लग जायेंगे, तो कभी वह समय भी आ सकता है कि हिन्दूकरण की प्रक्रिया के द्वार भी सबके लिए खुल जायं। किसी को जोर-जबर्दस्ती खींचकर ले आने का तो यहां प्रश्न ही नहीं है, यहां इतना अवश्य अपेक्षित है कि यदि कोई स्वेच्छया इसमें आना चाहे तो उसको यहां पर सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त हो।

हिन्दूकरण की प्रक्रिया में किसी को प्रवेश की प्रेरणा तभी मिल सकती है, जबकि इसके सभी अंग इसी में रहते हुए ससम्मान जीवन व्यतीत कर सकें। इस प्रकार की भावना जनता में जग गयी है। सम्पूर्ण भारतीय जनता की तो बात दूर, हिन्दू जनता भी हिन्दू धर्माचार्यों से दूर होती जा रही है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, कुम्भ आदि पर्वों के अवसर पर लाखों की संख्या में जुटने वाली हिन्दू जनता ने आज धर्माचार्यों का अनुसरण करना छोड़ दिया है। धर्माचार्य आगे नहीं आ रहे हैं, इसलिए वह स्वय नवीन धर्म अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण में जुट गई है। इसके बहक जाने की आशंका है। प्रबुद्ध धर्माचार्यों को आगे आकर नवीन भारतीय धर्म और संस्कृति के निर्माण में जनता का पथ-प्रदर्शन करना चाहिये।

———

'यह भारतीयकरण क्या है ?

भारतीयकरण विशुद्ध सांस्कृतिक प्रश्न है। यह देश का दुर्भाग्य ही समझा जायगा कि स्वतन्त्रता प्राप्ति की लम्बी अवधि बीत जाने पर भी हम आज तक न तो भारतीय राष्ट्रीयता का ही विकास कर पाये हैं और न एक भारतीय संस्कृति का ही। देश का नवनिर्माण गांधीवाद के विपरीत भौतिकवादी पाश्चात्य संस्कृति के आधार पर हो रहा है। मानसिक संस्कार पर बिना ध्यान दिये देश भौतिक उपलब्धियों की मृगतृष्णा के पीछे अन्धाधुन्ध दौड़ रहा है। देश की जनता की मानसिक संस्कार की प्राथमिक आवश्यकता को छोड़ हम आज रोजी-रोटी के संघर्ष में पड़े हैं। गांधी के देश में गांधीवाद को तिरस्कृत कर मार्क्सवाद अपनाया जा रहा है। एक ओर भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक उपलब्धियों को हम भूलते जा रहे हैं, दूसरी ओर पाश्चात्य संस्कृति में स्थापित नैतिक मूल्यों को भी ग्रहण नहीं कर पाये हैं। हम भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था को तो कोसते हैं, व्यक्तिवाद, जातिवाद, वर्गवाद, राज्यवाद और भाषावाद आदि की न मालूम कितनी घृणित व्याधियों से घिरते जा रहे हैं। प्रसिद्ध भारतीय विचारक मनीषिप्रवर स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी ने देश में भावात्मक एकता के लिए जोर दिया था। किन्तु उनकी आवाज अनसुनी कर दी गयी है और आज प्रकारान्तर से कही गयी भारतीयकरण की प्रक्रिया पर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है। भारतीयकरण प्रक्रिया का अन्तिम लक्ष्य भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता की स्थापना ही हो सकता है। इसमें विरोध की गुंजाइश ही कहाँ है।

संस्कृत में एक सुभाषित है—'बालादपि सुभाषित ग्राह्यम्'। अर्थात् अच्छी बात बालक की भी माननी चाहिये। इसके विपरीत भारतीय

---

१. दैनिक आज, वाराणसी (१९ जनवरी, १९७०) में प्रकाशित।

राजनीति में हम आज देख रहे हैं कि बिना किसी बात की अच्छाई-बुराई का विचार किये विभिन्न राजनीतिक दल आँख मूंदकर दूसरे दल के कार्यक्रम और विचारों का विरोध करने मात्र में जनतन्त्र की सफलता समझ रहे हैं। भारतीय राजनीति की यह रिक्तता तब और भी खलती है, जबकि आज का बुद्धिजीवी वर्ग भी इस या उस दल से सम्बद्ध होकर उनका सर्वात्मना अनुगामी बन जाता है और अपने दल की कार्यपद्धति का समर्थन करने में रीतिकालीन कवियों की भांति बुद्धि की कसरत करने लगता है। कांग्रेस के दो गुटों का संघर्ष हो या सनातनियों और आर्यसमाजियों का संघर्ष अथवा किसी प्रकार की और समस्या। बुद्धिजीवी वर्ग ही नहीं. समाचारपत्र भी गुणदोष का विचार न कर इस या उस पक्ष की ओर झुक जाते हैं। दलीय समाचारपत्रों से तो निष्पक्षता की कोई आशा ही नहीं रखी जा सकती, निर्दलीय कहे जाने वाले समाचार पत्र भी अपनी ढुलमुल नीति के कारण निर्भीकता से सही विचार व्यक्त करने में कतराते हैं। इनका साधारण पाठक यह निश्चय नहीं कर पाता कि क्या सही है और क्या गलत। भारतीय जनमानस के साथ ही समाचारपत्रों से भी सत्यनिष्ठ स्पष्टवादिता मिटती जा रही है।

भारतीयकरण प्रक्रिया से केवल मुसलमान, कम्युनिस्ट अथवा पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित व्यक्तियों को ही नहीं, हम सबको गुजरना है। इस प्रक्रिया में से उनको भी गुजरना है जोकि अन्तरराष्ट्रीयता के व्यामोह में पड़ भगवान् बुद्ध के प्रथम उपदेश वाक्यों से पवित्र हुए स्थल सारनाथ में परमपावन दलाई लामा की अध्यक्षता में इकट्ठे हुए तथा मार्क्सवाद के चीनी संस्करण के द्वारा क्रूरतापूर्वक अपने मूलदेश से निकाले गये तिब्बती जनों को, बौद्ध दर्शन की मार्क्सवाद से तुलना कर, भ्रम में डालना चाहते हैं। यह एक निर्माणाधीन व्यवस्था है, जिसकी ओर कि सभी राजनीतिक दलों, धार्मिक प्रतिनिधियों और बुद्धिजीवियों के सम्मिलित प्रयास से आगे बढ़ा जा सकता है। भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता की स्थापना राजनीतिक विवाद से ऊपर उठकर की जानी चाहिये। भावात्मक एकता के पुराने आधार आज सूखी माला के फूलों के समान बिखर गये हैं। ताजा फूलों की नयी माला गूंथने का कार्य अब होना चाहिये। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता है कि देश में ईसाईकरण, मुसलमानीकरण या हिन्दूकरण आदि की बात और क्रियाकलाप बन्द हो और भारतीय जनता के लिए भारतीयकरण प्रक्रिया के सर्वमान्य सिद्धांत स्थिर किये जायें। इस पवित्र कार्य में भी देश की आन्तरिक

राजनीति अथवा बाह्य निहित स्वार्थी प्रभाव बाधक बनता है, तो यह देश का दुर्भाग्य ही समझा जायगा।

भावात्मक एकता की उपलब्धि के लिए भारतीयकरण की प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त करने का पहला काम हमारी दृष्टि में यह होना चाहिये कि हम दूसरे की आलोचना करना छोड़ दें और आत्मनिरीक्षण में लग जायँ। पुराणों और सन्त साहित्य के माध्यम से हमारे पूर्वजों ने पूरे देश में भावात्मक एकता की स्थापना की थी। गांधीवाद हमको पुनः भावात्मक एकता की ओर ले जाता है। गांधीवाद की आध्यात्मिक उपलब्धियों के आधार पर यदि हम भारतीयकरण की प्रक्रिया को सम्पन्न करें तो इसके माध्यम से पूरे देश में सांस्कृतिक एकता स्थापित हो सकती है।

———

राष्ट्र की प्रथम आवश्यकता : एक राष्ट्रीयता और अखंड संस्कृति

भारत को स्वतन्त्रता मिलने के बाद देश में धर्मनिरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन स्थापित हुआ है। बहुजातीय, बहुधर्मी और बहुभाषीय राष्ट्र की दृष्टि से यह अनुचित नहीं है। किन्तु भारतीय परराष्ट्र नीति की यह विडम्बना ही मानी जायगी कि इस देश का कोई राजकीय धर्म या संस्कृति न रहते हुए भी, हम बौद्ध धर्म के माध्यम से दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों से, इस्लाम के आधार पर पश्चिम एशिया के देशों से और अपने जीवन में व्याप्त पाश्चात्य संस्कृति और भाषा के माध्यम से पूरे विश्व से सम्बन्ध स्थापित किये हुये हैं। भारतीय परराष्ट्र नीति की असफलता का मूल इसी में निहित है। देश की आन्तरिक उथल-पुथल को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। देश को स्वतन्त्र हुये दो युग बीत गये हैं. किन्तु एकराष्ट्रीयता अथवा देश की एक अखण्ड संस्कृति के विकास का कोई प्रयत्न ही प्रारम्भ नहीं किया गया। देश में ईसाईकरण, मुसलमानीकरण, हिन्दूकरण या बौद्ध दीक्षा की बात जब चलती है और अनेक संस्थायें तदनुकूल आचरण भी करती हैं, जो हमारे कान में जूं तक नहीं रेंगती, किन्तु भारतीकरण की जब बात उठती है तो हमारी नींद हराम हो जाती है। किसी का दिल और दिमाग जब कमजोर हो जाता है तो वह नींद में बड़बड़ाने लगता है। संस्कृत के प्रसिद्ध सामाजिक नाटक मृच्छकटिक का विदूषक अपने स्वामी और सखा चारुदत्त की सारी न्यस्त सम्पत्ति को इसी कमजोरी के कारण जाते हुए चोर (शर्विलक) को बुलाकर दे देता है। करीब-करीब हमारी भी आज यही स्थिति हो गयी है। अपनी स्वतन्त्रता को बचाने के बजाय आज हम उसको दूसरों को बुला कर सौंप देने की तैयारी कर रहे हैं।

कुछ राजनीतिज्ञों का कहना है कि भारतीय संविधान के अनुसार यहाँ के सभी निवासी भारतीय हैं, उनके लिये भारतीकरण का कोई प्रश्न ही नहीं

उठता। संविधान द्वारा प्रदत्त इस परिभाषा का हम आदर करते हैं। किन्तु भारतीय जनतन्त्र ने विगत २२-२३ वर्षों में क्या कोई ऐसा आधार स्थिर किया, जिससे कि यहाँ के नागरिक अपने को हिन्दू, सिख, जैन, बौद्ध, मुसलमान, ईसाई, पारसी न समझकर भारतीय समझें। इसके विपरीत भारतीय जनतन्त्र ने तो देश में विलगाव करने वाली जाति, वर्ग, भाषा, राज्य आदि की अगणित व्याधियों को उभाड़ दिया है। भावात्मक एकता के भारतीय आधारों को तो हम छोड़ते जा रहे हैं, पाश्चात्य नैतिकता और भ्रातृभाव को भी हम ग्रहण नहीं कर सके हैं।

वाराणसी में प्राच्य संस्कृति परिषद् के चतुर्थ सम्मेलन का शुभारम्भ करते हुए भारत के भू० पू० उपराष्ट्रपति श्री गोपाल स्वरूप पाठक ने संस्कृति की एक सीधी-सादी व्याख्या इस प्रकार की थी—'भौतिक साधन, विचारधारायें, आदर्श तथा आस्थायें, भावनायें, शुद्ध मूल्य एवं सामाजिक रीति-रिवाज जो किसी भी समाज में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विरासत में मिलते हैं, उन्हीं के सामूहिक रूप से संचयन को संस्कृति कहते हैं।' इस विषय में अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। संस्कृति शब्द आज बहुप्रचारित हो गया है और उसका सभी कुछ न कुछ अर्थ भी समझते हैं। अहम प्रश्न यह है कि भारतीय संस्कृति का स्वरूप क्या हो ?

डा० मंगलदेव शास्त्री वाराणसी की स्व० डा० भगवानदास, आचार्य नरेन्द्रदेव, डा० सम्पूर्णानन्द की परम्परा के प्रतिनिधि विद्वान् हैं। वे एक ग्रन्थ लिख रहे हैं—'भारतीय संस्कृति का विकास।' भारतीय संस्कृति को ऐतिहासिक दृष्टि से इन्होंने सात धाराओं में विभक्त किया है—(१) वैदिक, (२) औपनिषद्, (३) जैन, (४) बौद्ध, (५) पौराणिक (वर्तमान हिन्दू धर्म), (६) सन्त, (७) इस्लाम और ईसाइयत आदि। इन सभी धाराओं पर पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखने का उनका विचार है। वैदिक और औपनिषद धारा पर उनके ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। अन्य पुरातन संस्कृतियां आज जबकि नाम शेष रह गयी हैं, भारतीय संस्कृति की मूल पावन धारा अविरल धीर गम्भीर गति से आज भी बह रही हैं। विभिन्न देश-काल और परिस्थितियों में पली हुई संस्कृतियों को आत्मसात् कर लेने का अद्भुत सामर्थ्य इसमें है। इस संस्कृति ने आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के आक्रमणों का बड़े आत्म-विश्वास के साथ सामना किया है और अन्य संस्कृतियों के उदात्त तत्त्वों को अपना लेने में कभी परहेज नहीं किया। प्रारम्भ से ही यह संस्कृति त्याग,

तपस्या, सहिष्णुता और समन्वय के चार सुदृढ़ आधारों पर खड़ी हुई है। आज ये मूल मान्यतायें लड़खड़ाती सी नजर आ रही हैं।

क्या वैदिक, क्या जैन और क्या बौद्ध सभी धाराओं में त्याग और तपस्या के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समान विकास हुआ है और पाश्चात्य संस्कृति अपने राष्ट्र के लिये समय उपस्थित होने पर अधिक से अधिक त्याग और उसकी उन्नति के लिये कठोर परिश्रम करना सिखाती है। आज भारत में साधारण जन से लेकर उच्चपदस्थ व्यक्तियों तक में त्याग की भावना का नितान्त अभाव है। जनहित के नाम पर सभी अपनी गोटी लाल करने में लगे हैं। त्याग और तपस्या की भावना आज वहाँ भी मर गयी है, जोकि अपने को वैदिक या अन्य आध्यात्मिक संस्कृति का प्रतिनिधि मानते हैं। इनके केन्द्रों में जाकर देखा जा सकता है कि बाह्य आडम्बरों की ओट में मूल मान्यतायें किस प्रकार सिसक रही हैं।

वैदिक धारा में कभी हिंसा-प्रधान कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया था। औपनिषद धारा ने इसका विरोध किया। उसने वैदिक कर्मकाण्ड को मोक्ष पथ की यात्रा के लिये कमजोर नाव बताया। ये औपनिषद उपदेश आज विश्व की धरोहर हैं। शताब्दियां बीत जाने पर भी देश और काल की सीमा को लांघकर विद्यमान ये चिरपुरातन उपदेश आज भी चिरनवीन है। कठोपनिषद् कहती है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'। अर्थात् मनुष्य की तृप्ति धन से नहीं हो सकती है। इसके विपरीत मार्क्सवाद हमको आज कहाँ ले जा रहा है।

औपनिषद दर्शन और सांख्य-योग दर्शन की परम्परा में ही यहां पर एक ओर महावीर और बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ, तो दूसरी ओर पाशुपत और पांचरात्र मतों का। बुद्ध और महावीर ने वेद का प्रामाण्य जहाँ सर्वात्मना अस्वीकार कर दिया, वहाँ पर उपनिषद्, सांख्य-योग, पाशुपत और पांचरात्र मत ने मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया। इसी के परिणामस्वरूप भगवद्गीता में इन सभी मतों के समन्वय का प्रथम श्लाघ्य प्रयत्न परिलक्षित होता है। परस्पर सहिष्णुता के भाव के विकास के कारण ही यह सम्भव हो सका। इसके बाद सहिष्णुता और समन्वय के फलस्वरूप ही यहां पर दीर्घकाल तक पौराणिक संस्कृति का विकास हुआ, जोकि भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। भागवतकार ने न केवल उपर्युक्त वेदानुवर्ती या मध्यममार्गी, अपितु वेदविरोधी बौद्ध और जैन सिद्धान्तों का भी अपने ग्रन्थ में समावेश किया है। विष्णु के दस अवतारों में बुद्धदेव और चौबीस अवतारों में जैनों

के आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव भी समाविष्ट हैं। भागवतकार जब कहते हैं— "कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्" तो इसमें बुद्धदेव की वाणी मुखरित होती प्रतीत होती है। गीतगोविन्दकार जयदेव गाते हैं—'केशवधृत-बुद्धशरीर जय जगदीश हरे।' हिन्दू मात्र धार्मिक कृत्यों के प्रारम्भ में संकल्प वाक्य का उच्चारण करता हुआ कहता है— बौद्धावतारे।' यदि कोई सनातनी हिन्दू यह कहता है कि विष्णु के दस अवतारों में परिगणित बुद्धदेव बौद्ध धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध से भिन्न हैं, तो यह उस पर आर्यसमाज का प्रभाव ही माना जायगा। आजकल यह कहने का फैशन चल गया है कि बौद्ध धर्म को भारतवर्ष से बाहर कर दिया गया। हम जानना चाहते हैं कि मलएशिया और इण्डोनेशिया में बौद्ध धर्म क्यों नामशेष हो गया? भारतीय संस्कृति ने आज हिंसा-प्रधान वैदिक कर्मकाण्डों को भी छोड़ दिया है और बौद्ध धर्म की उन उपासना विधियों को भी, जिनके कि असंगत आचरण से बौद्ध धर्म में स्वयं ही विदेशी प्रभाव के आगे टिक सकने की शक्ति शेष नहीं रह गयी थी। इसके विपरीत वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध और पौराणिक संस्कृति के सम्मिलित उत्कृष्ट उपादानों से बनी भारतीय संस्कृति एक हजार वर्ष की विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए आज तक टिकी रही और आज स्वतन्त्रता की सांस ले रही है।

इन संकटपूर्ण घड़ियों में भारतीय संस्कृति सन्तों की अमृतमयी वाणी से अपनी जीवनी शक्ति अर्जित करती रही है। सन्त कबीर, जायसी, अमीर खुसरो, रसखान और अनेकों सूफी सन्तों ने, अकबर और दाराशिकोह जैसे राजपुरुषों ने इस्लाम का भारतीकरण करने में पूरा योगदान दिया है। आगरा का ताजमहल हो या बीजापुर का गोलगुम्बद, इस्लामिक संस्कृति के साथ ये हमारी भावात्मक एकता के प्रतीक हैं। हिन्दू और मुसलमानों ने कंधे से कंधा मिलाकर भारतीय स्थापत्यकला, संगीत और चित्रकला का विकास किया है और स्वातन्त्र्य-संग्राम का संचालन भी किया है। पाश्चात्य संस्कृति और विज्ञान का प्रभाव तो आज पूरे भारत में स्पष्ट ही परिलक्षित हो रहा है।

इस प्रकार आज की भारतीय संस्कृति के अजस्र प्रवाह में वैदिक, औपनिषद, जैन, बौद्ध, पौराणिक, सन्त, इस्लाम और पाश्चात्य संस्कृति की धाराओं का जल मिलकर वह रहा है। इन सभी धाराओं के साथ सम्पूर्ण भारतीय जनमानस में भावात्मक एकता स्थापित होने के बाद ही अखण्ड भारतीय संस्कृति के निर्माण का पथ प्रशस्त हो सकेगा और तभी देश में एक राष्ट्रीयता का विकास होगा। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद क्या इस दिशा में कुछ कार्य हुआ है।

महात्मा गांधी : अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता

संस्कृति की दो प्रकार की परिभाषाएं की जाती हैं। एक व्यापक अर्थ में और दूसरी सीमित अर्थ में। पहले अर्थ में मानव के द्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्व का संस्कृति में समावेश किया जाता है, तो दूसरे में केवल मानव की मानसिक उन्नति का। इसी को हम संस्कृति के आध्यात्मिक और आधिभौतिक पक्ष कह सकते हैं। किसी भी संस्कृति में आत्मा और विश्व के संस्कार की प्रक्रिया साथ-साथ ही चलती है, तो भी किसी में आध्यात्मिक और किसी में आधिभौतिक पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है। बाह्य विश्व के उपयोग या भौतिक प्राप्ति को प्रधानता देना भौतिक संस्कृति का लक्षण है। इसी अर्थ में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति को भौतिक कहा जाता है। इसके विपरीत भारतीय संस्कृति आत्मा की, मानव की मानसिक उन्नति की और विशेष रूप से दक्षचित्त है। इसीलिये भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक कही जाती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पाश्चात्य संस्कृति में आध्यात्मिक और भारतीय संस्कृति में भौतिक अंश है ही नहीं, 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार उक्त परिभाषा में केवल उनकी विशेषता की ओर इंगित मात्र किया गया है।

वर्तमान समय में भारतीय, चीनी, यूरोपीय और इस्लामिक आदि ऐसी संस्कृतियां विद्यमान हैं, जिनकी पूर्व परम्परा सैकड़ों हजारों वर्षों की है। इन संस्कृतियों की वृद्धि अविच्छिन्नतया निकटवर्ती पारस्परिक साहचर्य एवं सहयोग से नहीं हुई। इनका प्रारम्भिक विकास पृथक्-पृथक् रूप से हुआ है। अतएव इनमें विरोधी विशेषताओं का निर्माण हुआ। उक्त विशेषताओं के कारण ये संस्कृतियां परस्पर सामंजस्य के साथ निर्वाह नहीं कर पा रही हैं। इन्हीं विशेषताओं के कारण स्वतन्त्र अहंकारों तथा अभिनिवेशों का निर्माण हुआ है।

उक्त सब संस्कृतियां आज पूर्णतया परस्पर सम्पर्क में आयी हैं। विश्व के सब राष्ट्रों और समाजों के आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक व्यवहार आजकल अभेद्य रूप से आपस में गुथे हुए हैं। पाश्चात्य संस्कृति आज संसार के सब राष्ट्रों तथा समाजों के एकत्र सम्मिलन का कारण बनी है। अपने यातायात के साधनों तथा व्यापार की पद्धति के कारण यह संस्कृति समूचे संसार को एक जगह ले आती है। यान्त्रिक संस्कृति ने गत तीन सौ वर्षों में मानव जीवन में क्रान्ति कर दी है। अब उस संस्कृति ने सब सुसंस्कृत राष्ट्रों के अन्तरंग में प्रवेश किया है। गत तीन सौ वर्षों में अप्रतिहत रूप से पाश्चात्य संस्कृति की प्रगति हुई है। उसने अन्य पुरानी सस्कृतियों को निष्प्रभ सा बना दिया है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, साहित्य-कला, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी आज पूरा विश्व पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है।

यह पाश्चात्य संस्कृति आधिभौतिक है, यह हमने अभी बतलाया है। विज्ञान की प्रगति के साथ इसका यह रूप इधर और भी प्रखर हुआ है। आध्यात्मिकता की इसने उपेक्षा सी कर दी है। इसलिये बीसवीं शताब्दी के मध्य में उक्त सस्कृति की अवनति के ही नहीं, विश्व के भी विनाश के अशुभ चिन्ह दिखाई देने लगे हैं। इससे त्राण पाने का एकमात्र मार्ग इसमें आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समावेश से ही निकल सकता है। इस संस्कृति में यह तत्त्व भारतीय संस्कृति से लिया जा सकता है। उपनिषदों में ग्रथित आत्म-दर्शन अखिल विश्व के भेदों को भ्रमपूर्ण अथवा बन्धन रूप समझकर उनके मिथ्यात्व का उपदेश देता है। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध, सभी भारतीय धर्म और दर्शन मानव मात्र के, अर्थात् समूची मानव-जाति के कल्याण को परमार्थ मानते हैं। भारतीय सस्कृति की मूलभूत प्रेरणा विश्वव्यापिनी है। विभिन्न दृष्टियों और संस्कृतियों में सहिष्णुता और समन्वय की भावना को जागृत कर सकने के कारण ही यह सम्भव हो सका है। भारतीय संस्कृति के इस उज्ज्वल पक्ष का दर्शन पूरे विश्व को महात्मा गांधी ने न केवल विचारों से, अपितु अपने कार्यों और आचरण से भी कराया था।

भारतीय संस्कृति संसार की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है। इस संस्कृति की वृद्धि करने में अनेकों मानव-वंश प्राचीन काल से संलग्न हैं। वर्तमान समय में भी यह निरन्तर विकास के पथ पर अग्रसर है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियां इसके विकास की उज्ज्वल कड़ियां बनी हैं। संसार

की विविध सभ्यतायें इस संस्कृति में घुल-मिल कर एक हुई हैं। अन्य संस्कृतियों ने कुछ अंशों में अगर इसे उपकृत किया है, तो इससे उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है। वास्तव में भारतीय संस्कृति विश्व-संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

भारतवर्ष में विभिन्न जाति, धर्म और भावनाओं के अनुयायी जन बसते हैं। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख आदि धर्म तो इसी धरा की उपज हैं। ईसा मसीह की मृत्यु के बाद प्राचीन यहूदी-धर्म के अनुयायियों ने यहाँ शरण ली थी। वैदिक धर्म के सहोदर जरथुष्ट्र-धर्म के अनुयायी इस्लाम से प्रताड़ित होकर यहाँ शरण लेने आये थे। यूरोपियन आक्रान्ताओं के साथ ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया, यह तो हाल की बात है। शताब्दियों पूर्व भी विजातीय व्यक्तियों से प्रताड़ित होकर ख्रीष्ट धर्म यहाँ आया था और केरल में आज भी उस सम्प्रदाय के अनुयायी शान्तिपूर्वक निवास कर रहे हैं।

इस प्रकार सहिष्णुता और समन्वय भारतीय संस्कृति के विशेष गुण हैं। सहिष्णुता इसका प्रकट गुण है और समन्वय की प्रक्रिया जाने-अनजाने में मन्थर गति से चलती रहती है। भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता का यह ज्वलन्त उदाहरण है कि विभिन्न देश, काल और वातावरण में विकसित संस्कृतियां यहाँ निर्बाध रूप से रहती आयी हैं, जिनका कि वर्णन ऊपर के अनुच्छेद में हमने किया है। अभी हाल में चीनी तानाशाहों से पराभूत होकर आयी तिब्बती जन-संस्कृति यहाँ स्वतन्त्रता की सांस ले रही है। इस्लामी राज्य-काल में भी भारतीय संस्कृति के ये गुण उद्बुद्ध थे। किन्तु राजदण्ड का सहारा लेकर चलने वाली आधिभौतिक पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से अंग्रेजों के शासन काल के प्रारम्भ में ही ये गुण धूमिल से होने लगे थे। न केवल पाश्चात्य संस्कृति, किन्तु उसके राजनीतिक चंगुल में फंसी इस्लामिक संस्कृति भी भारतीय संस्कृति को पुनः तहस-नहस कर देने में लग गयी थी। इन आक्रमणों से भारतीय संस्कृति को बचाने के लिये किये गये राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, योगी अरविन्द आदि महापुरुषों के प्रयत्नों से हम सभी परिचित हैं। इन महानुभावों ने न केवल बाह्य आक्रमण से, अपितु कालविपाक से आये दोषों से भी भारतीय संस्कृति को उन्मुक्त करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

इतना होने पर भी भौतिक चकाचौंध, भौतिकतावादी विभिन्न दार्शनिक मतवाद और सर्वोपरि राज्य-शक्ति से समर्थित पाश्चात्य धर्म और संस्कृति

का यह प्रबल आक्रमण सर्वात्मना रोका न जा सका। बाह्य संस्कृतियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति को बचाने का प्रयत्न किया गया, किन्तु इनमें परस्पर समन्वय, सामंजस्य की स्थापना का प्रयास न हो सका। यह कार्य किया महात्मा गांधी ने। इसीलिए हम उनको एक अखण्ड भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता के रूप में स्मरण करते हैं।

पहले बताया गया है कि आज की पूरी दुनिया खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा-लिपि, कला-साहित्य, विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में भी पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हुई है। भारत भी इससे अछूता न रह सका। यहाँ के नव शिक्षित वर्ग में आज जो कुछ भी भारतीयता बची है, उसका अधिकांश श्रेय महात्मा गांधी को है। महात्मा गांधी के भारतीय राजनीति में पदार्पण करने के पूर्व यहाँ की राजनीति और नेतागण पूरी तरह पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित थे। अंग्रेजी भाषा और वेश-भूषा का उस समय के राजनीतिक सम्मेलनों में एकच्छत्र राज्य था। भारतीय भाषा बोलने में अथवा भारतीय वेश भूषा में समाज के सामने आने में शिक्षित वर्ग को हीनता का बोध होने लगा था। भारतीय राजनीति में राष्ट्रभाषा और खादी की प्रतिष्ठा कर महात्मा गांधी ने तत्कालीन शिक्षित वर्ग को इस हीनता-ग्रन्थि से मुक्ति दिलाने का अचूक प्रयत्न किया। भारतीय ऋषि-मुनियों और महापुरुषों के द्वारा सेवित त्याग, तपस्या और अहिंसा के मार्ग को उन्होंने पूरे विश्व के सामने न केवल वाणी से, अपितु आचरण के द्वारा भी उजागर किया। भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट गुणों से कुछ प्रबुद्ध पाश्चात्य चिन्तक अवश्य पहले से परिचित थे, किन्तु उपनिषद्, गीता, बुद्ध और महावीर के उपदिष्ट मार्ग पर अब भी चला जा सकता है, राजनीति में भी सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा हो सकती है, इसको पूरे जगत् में साधारण जन तक पहुँचाने का श्रेय महात्मा गांधी की जीवनचर्या को ही दिया जा सकता है। भारतीय जनता ने ठीक ही उनको 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित किया।

महात्मा गांधी ने न केवल भारतीय संस्कृति को भौतिक आक्रमण से बचाया, किन्तु पाश्चात्य संस्कृति को भी अध्यात्म की ओर उन्मुख किया। इस दिशा में हम रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और योगी अरविन्द के अवदान को भी भूल नहीं सकते। एक दुनियां, एक संस्कृति और एक राज्य की स्वर्णिम कल्पना बड़ी लुभा नी है। विचारक इस ओर सोचने लगे हैं। इसको मूर्त रूप देने के लिए संयुक्त राष्ट्संघ की स्थापना की गई है। किन्तु आज पूरा विश्व विभिन्न गुटों में बंटा हुआ है। एक गुट दूसरे को

निगल जाना चाहता है। इस परिस्थिति में एक विश्व-संस्कृति अथवा एक राज्य की कल्पना कैसे साकार हो सकती है ? द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आज की दुनियां का सर्वाधिक प्रिय सिद्धान्त है, जिसकी पूरी इमारत ही विद्वेष, घृणा, क्रूरता और संघर्ष के पायों पर खड़ी है सहिष्णुता और समन्वय के भारतीय सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में गांधी जी ने इस क्षेत्र में कुछ अपनी मान्यताएं स्थापित कीं, किन्तु उनके राजनीतिक अनुवर्तियों की ही उपेक्षा के कारण वे पनप न सकीं। भारतीय चार्वाक ने कहा था—

'त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः'।

इस चार्वाक दर्शन के रचयिता देवगुरु बृहस्पति माने गये और उनका दर्शन भी भारतीय दर्शन में परिगणित होता है। यह भारतीय सहिष्णुता इस विश्व के जनमानस में जब तक प्रतिष्ठित नहीं होगी, तब तक एक विश्व और एक संस्कृति की बात कोरी कल्पना ही साबित होगी। यदि विश्व को इस ओर अग्रसर होना है, तो उसको एक-न-एक दिन गांधीवाद की ही शरण में आना पड़ेगा।

गांधी के अपने देश की राजनीति में आज वाम और दक्षिण का झगड़ा देखकर आश्चर्य होता है। वर्ग-सघर्ष पर आधारित साम्यवादी राजनीति के ये दो पहलू हैं। आज साम्यवादियों में भी दो-तीन वर्ग हो गये हैं। अधिक उग्र वर्ग अपने को वाम पक्ष में और दूसरे को दक्षिण पक्ष में रखता है। वाम और दक्षिण शब्द ने आज राजनीतिक गाली का रूप ले लिया है। इसके वे भी शिकार हो जाते हैं, जिनको कि वर्ग-संघर्ष में विश्वास ही नहीं है। वर्ग-संघर्ष में विश्वास न रखने वाले प्रगतिशील दल और गांधी जी की कांग्रेस में एक वर्ग भी आज अपने को वामपंथी घोषित करने में गौरव का अनुभव करते हैं। पाश्चात्य राजनीति के सामने यह भारतीय राजनीतिज्ञों का आत्मसमर्पण ही कहा जायगा। इसका कारण यही है कि बुद्ध और महावीर को तो हम देर से भूले थे, गांधी को बहुत जल्दी ही भुला दिया गया। गांधी के शरीर की हत्या एक अतिराष्ट्रवादी ने की थी, उनकी राजनीतिक और सांस्कृतिक हत्या उनके निजी अनुयायियों ने ही की।

केवल राजनीति ही नहीं, अन्यान्य क्षेत्रों में भी भारतीय प्रतिभा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के आगे अपने स्वरूप को खो बैठी है। भारतीय साहित्य शास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद और दर्शन का विकास आज रुक गया है। आज की कविता की रचना और आलोचना पर पाश्चात्य समालोचना शास्त्र की छाप गहरी

होती जा रही है। ज्योतिष आज पाश्चात्य पंचांगों का और उपकरणों का सहारा ले रहा है। काशी के ही ख्यातनामा वैद्य ऐस्प्रो की गोली के चूर्ण को आयुर्वेद का चमत्कार वता कर उसका गौरव बढ़ाने में लगे हैं। एक ओर भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि नवीन दर्शन का निर्माण ही नहीं हो सकता, दूसरी ओर लक्ष्यहीन पाश्चात्य दार्शनिक-पथ का अन्धानुकरण चल रहा है। हमारे इतना कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की उपेक्षा कर दी जाय। हमको संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रतिष्ठापक स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी के दर्शन परिषद् के उद्घाटन के अवसर पर कहे गये वे शब्द याद हैं कि ज्ञान और विज्ञान को देश और काल की सीमा में वांधा नहीं जा सकता। इस सम्वन्ध में हमको वराहमिहिर के इस वचन से प्रेरणा लेनी है कि—

> वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
> ऋषिवत्तेऽपि पुज्यन्ते......................।।

किन्तु इसका मतलव यह नहीं है कि हम अपनी मौलिक चिन्तन-धारा को ही विस्मृत कर दें।

भारतीय राष्ट्रीयता आज विघटन की ओर बढ़ रही है। देश में धर्म-निरपेक्ष जनतन्त्र प्रणाली का शासन है। किन्तु समाज, धर्म, जाति, भाषा और प्रान्तीयता आदि की भांति-भांति की व्याधियों से ग्रस्त है। भारतीय राष्ट्रीयता और संस्कृति का न तो विकास हो रहा है और न इस ओर कोई ध्यान ही दे रहा है। जनतन्त्र में वहुमत का महत्त्व है। विभिन्न मतवादों के आधार पर संघटित राजनीतिक दल आज अपना वहुमत बनाने के चक्कर में एक राष्ट्रीयता अथवा संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों की भी उपेक्षा करने में संकोच का अनुभव नहीं करते। इसी देश का एक अंग अब पाकिस्तान के नाम से इससे अलग होकर राष्ट्र को नष्ट कर देने के लिए मुहम्मद गौरी के आक्रमणों से प्रेरणा ले रहा है। वहाँ के शासकों का यह दृढ़ विश्वास है कि भारत की विविधता तथा फूट के कारण कभी न कभी हम अवश्य ही पूरे देश पर अपना वर्चस्व उसी प्रकार स्थापित करने में समर्थ होंगे, जैसे कि एक हजार वर्ष पूर्व इस्लाम के अनुयायियों ने इस देश पर किया था। पाकिस्तान से सहानुभूति रखने वालों की संख्या यहाँ कम नहीं है। कुछ ऐसे भी दल हैं, जो कि रूस अथवा चीन से आदेश प्राप्त करते हैं। अंग्रेजी भाषा और सस्कृति एवं अंग्रेजियत के साथ अमेरिकन पद्धति का अनुकरण करने वालों का एक वड़ा वर्ग यहाँ अभी भी कार्यरत है। यह है देश की आज आशंकाओं से भरी भयावह

परिस्थिति। विघटनकारी प्रवृत्तियां तीव्रता से कार्यरत हैं। आज की दूषित राजनीति में इसका समाधान नहीं मिल सकता। इसके लिए सांस्कृतिक धरा-तल पर ही आगे बढ़ा जा सकता है। प्रार्थना-सभा के माध्यम से सभी धर्मों में समन्वय स्थापना के द्वारा इस मार्ग को महात्मा गांधी ने उन्मुक्त द्वार किया था। आज सच्चाई से इमी का सहारा लेने की जरूरत है। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता हैं, यहाँ के सभी धर्मों, वर्गों और सम्प्रदायों में सहिष्णुता की भावना के विकास की। महात्मा गांधी ने जीवन भर इसके लिए अथक प्रयास किया, किन्तु तब पाश्चात्य राजनीति ने यह कार्य नहीं होने दिया और अब अवसरवादी राजनीतिज्ञ इसमें बाधक बने हुए हैं।

संघर्ष, विभीषिका, परस्पर अविश्वास और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ रहा यह विश्व तभी त्राण पा सकता है, जबकि वसुधैव कुटुम्बकम्' और सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का दिव्य सन्देश विश्व संस्कृति को समर्पित किया जा सके। यह तभी हो सकता है, जब कि भारत इसको देने में समर्थ हो। दुनिया के सभी धर्म और सस्कृति के अनुयायी यहाँ बसते हैं। वे यदि शान्तिपूर्वक रहना सीख जायं तो अनायास ही विश्व संस्कृति की सर्जना का मार्ग खुल सकता है। इस पुण्य कार्य में महात्मा गांधी का अवदान गतिशील प्रेरणास्रोत सिद्ध होगा।

———

[1]वर्णाश्रम धर्म, दलित जातियां और धर्म परिवर्तन

वैदिक काल में हिन्दू धर्म का ढांचा चार वर्ण और चार आश्रम की दृढ़ नींव पर खड़ा था। अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह (दान लेना) का एकमात्र अधिकार ब्राह्मण को था। अध्ययन, यजन और दान क्षत्रिय और वैश्य भी कर सकते थे। स्त्री और शूद्र को यह अधिकार भी नहीं दिया गया था। कुछ वैदिक सूक्तों के द्रष्टा के रूप में अथवा ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् साहित्य में भूले-भटके स्त्री और शूद्र का भी उपदेष्टा अथवा द्रष्टा के रूप में उल्लेख मिल जाता है। किंतु वह केवल अपवाद मात्र रहा है। कहा जा सकता है कि उस काल में पूरे समाज पर ब्राह्मण वर्ग का अप्रतिहत नियन्त्रण था और इस व्यवस्था के विरुद्ध किसी को कोई एतराज भी नहीं था।

चार वर्णों की भांति चार आश्रम भी सामाजिक व्यवस्था के अभिन्न अंग थे और संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् इन चारों आश्रमों के नियामक ग्रन्थ थे। मनुष्य की आयु सौ वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम की कालावधि २५ वर्ष की मानी गयी थी।

उस काल की यह आदर्श सामाजिक व्यवस्था रही है और वाल्मीकि के ऐतिहासिक काव्य रामायण में इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। इसके विरोध अथवा आलोचना में वहाँ एक भी वाक्य नहीं मिलता।

इस व्यवस्था में विकृति आयी। हिंसा प्रधान वैदिक कर्मकाण्ड के माध्यम से समाज पर ब्राह्मण वर्ग के प्रभुत्व के विरोध में बुद्ध और महावीर ने तो आवाज बुलंद की ही, इस कार्य को प्रशस्त किया उपनिषद्, सांख्य और योग-

---

१. दैनिक आज, वाराणसी (१६-१७ नवम्बर, १९७२) में प्रकाशित।

दर्शन ने, पांचरात्र तथा पाशुपत धर्म ने, जिसको कि आजकल वैष्णव और शैव धर्म के नाम से जाना जाता है। यद्यपि बौद्ध पालि-वाङ्मय तथा जैन प्राकृत-वाङ्मय में ब्राह्मण जाति की अपेक्षा क्षत्रिय जाति का वर्चस्व स्थापित करने का प्रयत्न हुआ है, तथापि बुद्ध का प्रधान शिष्य उपालि नापित था, जिसको कि बुद्ध के विनय सम्बन्धी उपदेशों को लिपिबद्ध कराने का श्रेय प्राप्त है। बौद्ध संघ में प्रवेश करने के बाद भिक्षु की ज्येष्ठता का आधार जाति या आयु न होकर संघ में प्रवेश का क्रम था। वर्णाश्रम व्यवस्था के विरोध में यह पहला क्रांतिकारी कदम था। इसके दूरगामी परिणाम निकले और वर्णाश्रम व्यवस्था की नींव हिल उठी।

चार वर्ण और चार आश्रमों के स्थान पर बौद्ध धर्म में 'भिक्षु' और 'श्रामणेर' तथा जैन धर्म में 'मुनि' और 'श्रावक' ये दो ही विभाग रह गये। वैष्णव और शैव धर्म ने भी इसी व्यवस्था को स्वीकार किया। इन धर्मों में दीक्षित हो जाने पर व्यक्ति की बौद्ध, जैन, वैष्णव या शैव एक ही जाति रह जाती थी। दीक्षित हो जाने पर पूर्व जाति का आग्रह या स्मरण करना भी पाप समझा जाता था। वैष्णव और शैव आगम तथा बौद्ध, शैव और शाक्त तन्त्र ग्रन्थों में समान रूप से जाति के आग्रह को 'पाश' माना गया है। तन्त्रशास्त्र और अलंकार शास्त्र के प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' में मुकुटसंहिता को स्मरण किया है। तन्त्रालोक की टीका में उद्धृत इस संहिता के इन दो श्लोकों को आप देखें —

> द्विजोऽपि मायी त्याज्यस्तु म्लेच्छो ग्राह्यो ह्यमायकः।
> स प्रियस्तु महेशस्य चतुर्वेदो न दाम्भिकः॥
> ब्राह्मणेन कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम्।
> किं तत्र कारणं जातिर्धर्माधर्मेषु शस्यते॥

भारतीय जातिवाद अथवा ब्राह्मणवाद की समालोचना में पाश्चात्य विद्वान्, मार्क्सवादी अथवा समाजवादी राजनेतागण और आधुनिक नव बौद्धों से बहुत पहले महेश्वरानन्द की महार्थमंजरी में तथा अन्य तन्त्र ग्रन्थों में ही नहीं, महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ में भी बहुत कुछ लिखा गया है। परिणामस्वरूप समाज का नेतृत्व ब्राह्मणों से हटकर उक्त धर्मों के आचार्यों के हाथ में चला गया।

वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था में वृद्धावस्था में ही संन्यास का विधान था और पूरी सामाजिक व्यवस्था धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इस पुरुषार्थ

चतुष्टय की अवाप्ति के उद्देश्य से पूर्ण नियंत्रित थी। उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा पुराण वाङ्मय ने उक्त व्यवस्था को बनाये रखने पर जोर दिया, जबकि इसके विपरीत उक्त सभी धर्मों ने संन्यासाश्रम की वय की सीमा को अमान्य कर दिया। 'यदहरेव विरजेत्" "तदहरेव प्रव्रजेत्" यह वाक्य बतलाता है कि उस समय तक वैदिक सस्कृति पर भी उक्त धार्मिक संस्कृति का वर्चस्व स्थापित हो चुका था। इस व्यवस्था ने आग में घी डालने का काम किया। मनुस्मृति की यह उक्ति गलत नहीं है—

घृतकुम्भसमा नारी तप्तागांरसमः पुमान्।

बौद्ध संघ तथा अन्यत्र भी स्त्रियों के अव्याहत प्रवेश के कारण ऐसे शास्त्र का आविर्भाव हुआ, जो कि भोग और मोक्ष दोनों का एक साथ विधान करता था। स्मृति काल में ब्रह्मचर्य की परिभाषा थी अष्टविध मैथुन का त्याग. अब "औष्ठान्त्यत्रितयासेवी" ब्रह्मचारी कहलाने लगा। इस अव्यवस्था को रोकने का प्रथम बार प्रयत्न किया आचार्य शंकर ने।

प्रस्थानत्रयी-उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता—के भाष्यों के माध्यम से प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था की पुन. प्रतिष्ठा का उन्होंने प्रयत्न किया सही, किन्तु वे भी समाज का नेतृत्व उपनिषद् काल के त्यागी और तपस्वी गृहस्थ, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय को न सौंप सके। फलतः युवावस्था में संन्यासी बनने से जो विकृतियां अन्यत्र आयी थीं, उनका प्रवेश यहां भी रुक न सका। आचार्य शंकर की अपशूद्राधिकरण की व्याख्या इतिहास के क्रम को उलटने वाली शोचनीय घटना मानी जायगी। यहीं से भारत का सामाजिक इतिहास दो भागों में बंट जाता है।

यद्यपि सम्राट् अशोक के बाद शुंग काल में ब्राह्मणवाद की पुनः प्रतिष्ठा का प्रयत्न हुआ था, तथापि इसके साथ ही मनुस्मृति के माध्यम से अनेक संकर जातियों को वर्ण व्यवस्था के अन्तराल में समेटने के स्तुत्य प्रयत्न में कोई बाधा नहीं उपस्थित हुई और सम्राट हर्षवर्धन या उसके कुछ समय बाद तक बाह्य संस्कृतियों अथवा समुदायों को आत्मसात् करने का कार्य निर्बाध निरन्तर चलता रहा। आचार्य शंकर के समय में स्थिति बदल रही थी। समता और भ्रातृभाव के सहारे विश्वबन्धुत्व का उद्घोष करने वाले इस्लाम धर्म का उदय तब हो चुका था और भारत के पश्चिमी प्रान्त भागों में यत्र-तत्र उसके आक्रमण भी होने लगे थे। उस समय समाज में ब्राह्मण वर्ग को नहीं, बौद्ध, जैन, शैव अथवा वैष्णव धर्माचार्यों को सर्वोच्च सम्मान प्राप्त

था और यही स्थिति आज भी विद्यमान है, किन्तु इसके अतिरिक्त इन सभी धर्मों के गृहस्थ अनुयायियों की विशाल संख्या थी और आज की ही भांति शूद्र वर्ण के अन्तराल में पनप रही दलित जातियां भी। उस समय इनके साथ आज का सा व्यवहार किया जाता था या उससे भिन्न, इसको जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र ने और उनके भाष्यकार आचार्य शंकर ने बौद्ध और जैन धर्म के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्र धर्म को भी अवैदिक सिद्ध किया है, यद्यपि महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में, पुराणों में और पुष्पदन्त के शिवमहिम्नस्तव में अन्तिम चारों सिद्धान्तों का वेद के समान ही प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने ही नहीं, वैष्णव पुराणों ने भी यद्यपि शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध बताया है, किन्तु अपने धर्म को वैदिक सिद्ध करने की धुन में उन्होंने अपशूद्राधिकरण की व्याख्या के प्रसंग में आगम ग्रन्थों की लचीली व्यवस्था को न मान वर्णव्यवस्था की रूढ़ धारणा को ही पुष्ट किया है। न केवल भारतीय संस्कृति का, सस्कृत भाषा के भी ह्रास का युग यहीं से प्रारम्भ हो जाता है। भास्करराय तक आते आते आगम और तन्त्रशास्त्र भी वैदिकीकरण प्रक्रिया में समा जाते हैं। तुलसी के रामचरितमानस पर भी स्त्री और शूद्र के प्रसंग में यह प्रभाव देखा जा सकता है।

बुद्ध और महावीर ने, वैष्णव आलवार और शैव अलियारों ने सिद्ध नाथ और सन्तों ने अपने उपदेशों का माध्यम लोकभाषा को बनाया था। इस परम्परा ने प्रत्येक धर्म की उदात्त भावनाओं को अपनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस्लाम के आक्रमण के पूर्व तक संस्कृत भाषा के माध्यम से भी यह कार्य हुआ किन्तु इसके बाद लोकभाषाओं ने यह काम सभाल लिया। छान्दोग्योपनिषद् ने सत्यकाम जाबाल के उपाख्यान में आचरण की महत्ता प्रतिपादित की थी। भारतीय जनमानस ने परतन्त्रता काल में भी सन्त कबीर, रैदास और भीखा साहब को ही नहीं, हाल में गांधीजी को महात्मा की उपाधि से विभूषित कर यह सिद्ध कर दिया है कि औपनिषद उपदेशों की परम्परा यहाँ अक्षुण्ण चली आ रही है। वर्णाश्रम व्यवस्था इसमें कभी बाधक नहीं बनी है।

यह आश्चर्य की बात है कि उत्कृष्ट दार्शनिक सिद्धान्तों, उदात्त भावनाओं, सहिष्णुता, समन्वय और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष करने वाली यह संस्कृति आज आचरण के मामले में बहुत ही दयनीय स्थिति में है। "शुनि

चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" इस गीता वाक्य का जब हम यह अर्थ करने चलते हैं कि पण्डित समदर्शी तो है, किन्तु शास्त्र सबके साथ समान आचरण की अनुमति नहीं देता, तो हमें 'मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्...' वाला नीतिवाक्य स्मरण आ जाता है। आज पूरा हिन्दू समाज इस व्याधि से ग्रस्त है। दलित वर्ग से भी आये किसी एक विशिष्ट व्यक्ति का सम्मान करना तो हमने सीखा है, किन्तु पूरे समाज को समानता हमने कभी नहीं दी। वर्ण व्यवस्था के भीतर ही पूरे समाज को बांधने के उद्देश्य से अनेक जातियों और उपजातियों का यह अम्बार लग गया। समाज को बुद्धिजीवी, सैनिक, व्यापारी, और श्रमिक वर्ग में बांटना कोई अनुचित बात नहीं थी। अनुचित प्रवेश किया इसमें ऊंच-नीच की भावना ने। हिन्दू समाज में आज यह रोग इतना फैला हुआ है कि शूद्र से वैश्य, वैश्य से क्षत्रिय और क्षत्रिय से ब्राह्मण तो अपने को ऊंचा समझता ही है. ब्राह्मणों में भी अनेक वर्ग अपने को एक-दूसरे से ऊंचा मानने में होड़ लगाये बैठे हैं और इसी तरह शूद्रों में ही नहीं, दलित, अछूत हरिजन कही जाने वाली जातियों में भी एक जाति से दूसरी जाति को हीन मानने वाली दुर्भावना विद्यमान है। आज का साधु-समाज भी अब इस भावना से वंचित नहीं है। इनमें भी इसी ऊंच-नीच की भावना के आधार पर विभिन्न वर्ग बन गये हैं। आज दीक्षित हो जाने के उपरान्त पूर्व जाति का स्मरण करना पाप है, इस सिद्धान्त को भी भुला दिया गया है। चिन्तन और आचरण का यह वैषम्य ही आज हिन्दू समाज के बिखराव का सबसे बड़ा कारण है।

इस विषम आचरण के बावजूद भारत में इस्लाम के प्रवेश के पूर्व इससे समाज को कोई विशेष खतरा नहीं था। किन्तु एक हाथ में पवित्र कुरान के भाई-चारे और दूसरे हाँथ में तलवार लेकर जब इस्लाम ने अपनी विजययात्रा प्रारम्भ की तो भारतीय समाज-व्यवस्था चरमरा उठी। भारतीय समाज-व्यवस्था का पिछले एक हजार वर्ष का इतिहास आत्मसमर्पण का रहा है। प्राचीन काल में अपनी शरण में आये यहूदी, ईसाई अथवा पारसीक धर्म के अनुयायी अथवा अभी हाल में आये तिब्बती बौद्धों के धार्मिक अथवा सामाजिक जीवन में हमनें कोई हस्तक्षेप नहीं किया, किन्तु अपनी यह विशेषता अन्य धर्मावलम्बियों के गले उतार पाने में हम आज भी असमर्थ हैं। पहले इस्लाम के, बाद में ईसाइयों और अब नव बौद्धों के द्वारा अपनी समाज-व्यवस्था और धर्म में किये जा रहे हस्तक्षेप को हम अपनी ही कमजोरी के कारण नहीं रोक पा रहे हैं। आज हिन्दू धर्म में प्रवेश के सभी मार्ग बन्द हैं

और निकलने के सभी दरवाजे खुले हुए हैं। क्या यह निष्क्रमण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहेगी ?

भारतीय समाज के इस्लामीकरण और ईसाईकरण की प्रक्रिया देश के स्वतन्त्र होने के बाद कुछ थमी है, किन्तु अब बौद्ध दीक्षा पुनः अपना इतिहास दुहराने जा रही है। इन सभी का प्रधान कार्यक्षेत्र दलित तथा वन्य जातियां हैं, जिनके साथ कि सवर्ण हिन्दू पशु से भी बदतर व्यवहार करता है। इस विषम स्थिति से उबरने का एक ही उपाय हो सकता कि हिन्दू समाज के दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाया जाय। यदि यह नहीं होता तो इस धर्म परिवर्तन की बाढ़ को रोक पाना सम्भव नहीं होगा।

भारत आज बहुधर्मी राष्ट्र है। जब बौद्ध, जैन और सिख धर्म के अनुयायी इसी धरती की उपज होते हुए भी हिन्दू धर्म के साथ बेगानापन का अनुभव करते हैं तो बाहर से आये पारसी, मुसलमान और ईसाई कैसे इसको अपना सकेंगे। यद्यपि आज इन बाहरी धर्मों के अनुयायी भी प्रायः भारतभूमि के ही पुत्र हैं। राष्ट्र को सबल बनाने के लिए इनमें एक राष्ट्रीयता की भावना आवश्यक है। पारसियों ने इस राष्ट्र के साथ अपना शत-प्रतिशत तादात्म्य स्थापित कर लिया है। धर्म-परिवर्तन यदि सोच समझ कर किया जाता है, दलित एवं जन-जातियों की यदि यह सामाजिक तथा आर्थिक समस्या को सुलझा देता है और राष्ट्र की एकता में यदि यह बाधक नहीं बनता तो हो सकता है कि उसको उदारचेता भारतीय बुद्धिजीवियों का समर्थन प्राप्त हो जाय, किन्तु यदि घृणा, द्वेष, वर्गवाद और हिन्दू धर्म की कल्पित बुराइयों को उभाड़कर यह किया जाता है तो अवश्य ही राष्ट्रद्रोह का कार्य होगा।

मुसलमान धर्म-प्रचारक हो या ईसाई अथवा बौद्ध सभी हिन्दू धर्म की कुछ त्रुटियों को बढ़ा-चढ़ाकर निरीह जनता के सामने रखते हैं और एकमात्र धर्म-परिवर्तन को उनके सभी दुःख-दर्दों की दवा बताते हैं। किन्तु द्वेष, घृणा, संकीर्णता और असहिष्णुता से भरे इस धर्म परिवर्तन के बाद उनकी क्या दशा होती है ? गरीब मुसलमानों अथवा नव बौद्धों की भी धर्म-परिवर्तन से आर्थिक ही नहीं, सामाजिक दशा में भी कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है और न होने वाला ही है। जोर-जबरदस्ती अथवा छल-छद्म से धर्म-परिवर्तन की प्रवृत्ति बौद्ध धर्म में नहीं थी। अब बाह्य प्रभाव से यह प्रवृत्ति उसमें पनप रही है।

आज भारत का नव बौद्ध मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र की ही भांति गांधीवाद से भी चिढ़ता है। उनकी दृष्टि में आज के युग के लिए बौद्ध धर्म और मार्क्सवाद ये ही दो आर्य सत्य हैं।

आज का हिन्दू समाज मनुस्मृति से नहीं, डाक्टर अम्बेडकर के बनाये हिन्दू-कोड विल से संचालित है, यह जानते हुए भी बौद्ध भिक्षु सभामंच से मनुस्मृति का भूत खड़ा करने से बाज नहीं आते।

इस वहुधर्मी राष्ट्र की सामाजिक समस्याओं का समाधान धर्म नहीं, सस्कृति के माध्यम से होना चाहिये, जिसमें कि सभी धर्मों की अच्छाइयां विद्यमान हों और किसी भी धर्म की बुराई प्रवेश न कर सके। इसके लिए आवश्यक है कि यहां पर वैदिक और औपनिपदीय आध्यात्मिक मूल्यों तथा गार्हस्थ्य धर्म की पुनः प्रतिष्ठा तो हो, किन्तु वर्णाश्रम धर्म की ऊंच-नीच की भावना को तिलांजलि दी जाय। बौद्ध और जैन धर्म की अहिंसा, करुणा, प्रज्ञा और दुःखी जीवों की सहायता करने की सामाजिक भावना का समावेश तो हो, किन्तु अल्पवय में भिक्षु, मुनि या संन्यासी बनने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाया जाय, जिसके कारण कि न केवल बौद्ध धर्म, किन्तु परवर्ती हिन्दू और ईसाई धर्म में भी रहस्यवादी प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इस अस्वाभाविक प्रव्रज्या से इस्लाम ने अपने को बचाकर बड़ी बुद्धिमानी का परिचय दिया है। साथ ही उसका भ्रातृभाव तथा समता दृष्टि भी सभी धर्मों के लिए अनुकरणीय है, यदि इसमें से संकीर्णता और अन्य धर्मों के प्रति असहिष्णुता को हटा दिया जाय।

ईसाई मिशनरियों की सेवा भावना कभी बौद्ध भिक्षुओं में भी विद्यमान थी, किन्तु आज का हिन्दू मठाधीश, महन्त, धर्मगुरु और भिक्षु स्वयं समाज की सेवा न कर, समाज से अपनी ही सेवा लेता है। आज पूरे भारत में दुर्गम स्थलों पर भी केवल ईसाई मिशनरियां ही अपनी सेवा भावना के सहारे टिकी हुई हैं। भारतीय साधु-समाज को जब तक समाज तिरस्कृत नहीं कर देता, उससे पहले ही उसमें यह सेवा भावना जागनी चाहिये।

आवाप और उद्वाप, संग्रह और त्याग की इस प्रक्रिया को फिलहाल कोई धर्म नहीं स्वीकार कर सकता। संस्कृति के माध्यम से ही यह सम्भव हो सकता है। सहिष्णुता और समन्वय के अपने विशिष्ट गुणों के माध्यम से भारतीय संस्कृति सदा इस ओर अग्रसर रही है और आज भी यह महात्मा

गांधी के बताये मार्ग से मानवतावाद के आधार पर इस कार्य को करने में समर्थ है।

हिन्दू समाज की दुर्दशा का कारण इसमें विद्यमान अगणित जातियों और उपजातियों को बताया जाता है और कहा जाता है कि बिना इनको तोड़े इसका सुधार नहीं हो सकता। यह रोग का एक गलत निदान है। हिन्दू समाज की असली बीमारी है ऊंच-नीच की भावना और उसके आधार पर छूआछूत का व्यवहार। 'समः सर्वेषु भूतेषु' गीता का यह उपदेश जब तक केवल पोथी की शोभा बढ़ायेगा, तब तक हिन्दू समाज से निष्क्रमण की प्रक्रिया कभी बन्द नहीं होगी और अन्ततः स्वर्गीय श्रीप्रकाश जी के शब्दों में एक दिन हिन्दू जाति भी मिस्र और बेबिलोनिया आदि की प्राचीन जातियों के समान केवल नाम-शेष रह जायगी।

हमें आशा और विश्वास है कि ऐसा नहीं होगा। हिन्दू समाज ने पर-तन्त्रता के एक हजार वर्षों में विपरीत परिस्थितियों का दृढ़ता के साथ सामना किया है और समय के साथ समझौता करते समय अपने मूल सिद्धान्तों को कभी नहीं छोड़ा। देश अब स्वतन्त्र हो चुका है। हमें आशा है कि धर्म-परि-वर्तन की इन चुनौतियों का सामना करने का सामर्थ्य अब उसमें अवश्य उद्-बुद्ध होगा और देश का सामाजिक वातावरण इस प्रकार का बनेगा कि उसमें धर्म-परिवर्तन की किसी को कोई आवश्यकता ही न प्रतीत हो।

कश्मीरी साहित्यिकों ने रस-निष्पत्ति के प्रसंग में साधारणीकरण व्यापार की उद्भावना की है। अखण्ड भारतीय संस्कृति की निष्पत्ति में भी इस व्यापार की सत्ता आंकी जा सकती है। पर्वों और उत्सवों के अवसर पर हजारों और लाखों की संख्या में जुटने वाली धार्मिक जनता आज राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, मन्दिर प्रवेश जैसे धार्मिक मामलों में भी अपने धर्माचार्यों का अन्धानुकरण नहीं करती। धर्माचार्यों के स्पष्ट आदेश के बावजूद विश्व-नाथ मन्दिर में जनमानस की श्रद्धा न तो कम हुई है और न वह अमेरिकी नागरिकों के चन्द्रमा पर पहुंच जाने पर वहाँ से देवत्व के पलायन की बात को ही मानती है। यही वह साधारणीकरण व्यापार है जिसके माध्यम से अखण्ड भारतीय संस्कृति की निष्पत्ति होने जा रही है। इस व्यापार के विप-रीत छल-कपटपूर्ण कोई क्रिया प्रतिक्रिया को ही जन्म देगी। भारत के प्रबुद्ध बुद्धिजीवी वर्ग को इस ओर से सचेत रहना चाहिये कि इस भारतीय संस्कृति के स्वाभाविक पावन प्रवाह को रोकने अथवा उसको गलत दिशा देने का कोई दुष्प्रयत्न सफल न होने पावे।

बौद्ध विचारक धर्मकीर्ति ने आज से डेढ़ हजार वर्ष पूर्व स्नान करने में भी धर्म की भावना को जड़ता का लक्षण माना था। इस सस्ती धर्म भावना ने ही हिन्दू धर्म में दम्भ को अनावश्यक प्रवेश दिया और संसार के सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ गीता को गृहस्थों की नहीं, सन्यासियों की आचार संहिता बना दिया है। हमें आशा है कि राम-कृष्ण, बुद्ध-महावीर, कबीर और गांधी का यह देश न केवल जेन्दावेस्ता (पारसी धर्म ग्रन्थ), जो कि ऋग्वेद का सहोदर साहित्य है और न केवल सिख गुरुओं के ग्रन्थ साहब, जो कि भारतीय सन्त परम्परा की ही एक उत्कृष्ट देन है अपितु बाइबिल और कुरान से भी, ईसाई सन्तों और सूफी फकीरों के उपदेशों से भी तादात्म्य स्थापित कर न केवल अखण्ड भारतीय संस्कृति, अपितु विश्व संस्कृति का भी निर्माण कर कलह और कटुता के वातावरण से विश्व को त्राण दिला पाने में समर्थ हो सकेगा।

———

बौद्ध दीक्षा : एक समीक्षा

अन्ततः २६ नवम्बर (सन् १९७२) को एक लाख न सही, एक हजार हरिजन बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये। कहा जाता है कि बी० बी० सी० के अनुसार यह संख्या १० हजार थी और कम्प्यूटर अधिकारी के अनुसार सात हजार से अधिक। इस दीक्षा समारोह के आयोजक इस संख्या को आठ हजार के लगभग बताते हैं। २५ और २६ नवम्बर को हेमन्त ऋतु में हुई अभूतपूर्व वर्षा इस समारोह के आयोजकों और पुरातन पंथी विरोधियों को भी मानसिक सान्त्वना देने वाली रही है।

समझ-बूझ कर स्वेच्छा से कोई व्यक्ति या समुदाय धर्मपरिवर्नन करता है तो वहाँ संख्या का भले ही कोई महत्त्व न हो, किन्तु यदि सामाजिक अन्याय से पीड़ित होकर व्यक्ति या समुदाय स्वयं अपनी इच्छा से अथवा किसी अन्य से प्रेरित होकर यह करता है तो इस परिस्थिति में छोटी से छोटी सख्या का भी महत्त्व आंका जाना चाहिये। इस प्रसंग में अखण्ड भारतीय संस्कृति और एक राष्ट्रीयता के अनुरागियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने को केवल दूसरों की आलोचना तक ही सीमित न रक्खें, किन्तु समाज के द्वारा किये जा रहे विषम व्यवहारों के निराकरण के लिये पूरी तत्परता से सन्नद्ध हो जायें।

धर्मपरिवर्तन की इस घटना के लिये हम अब भी दीक्षा शब्द का ही प्रयोग करना चाहते हैं। साथ ही आशा करते हैं कि इसके आयोजक इस पवित्र शब्द की भावना का आदर करेंगे और भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम-कृष्ण और विष्णु-शिव के प्रति नव दीक्षितों में द्वेष और घृणा की प्रवृत्ति को न पनपने देंगे।

यह दुर्भाग्य का विषय है कि सारनाथ की बौद्ध दीक्षा के प्रति हमारा जितना ध्यान आकृष्ट हुआ, उसका शतांश भी हम नागालैण्ड में इसी अवधि

में सम्पन्न हुई जनजातियों के ईसाई धर्म में दीक्षित होने की घटना पर केन्द्रित न कर सके। क्या इन घटनाओं से भी हममें आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्ति न जागेगी ? इस अवस्था में भी मात्र दूसरों को दोष देकर शान्त हो जाना क्या हमारा तन्द्रावस्था का प्रलाप नहीं माना जायगा ? इतना कर देने मात्र से क्या धर्मपरिवर्तन की यह दुरभिसन्धिपूर्ण प्रक्रिया रुकने वाली है ? क्या हरिजनों को बौद्ध धर्म का, जनजातियों को ईसाई धर्म का चरागाह बनते देखकर भी हमारा आत्मबोध न जागेगा ?

इस देश के धर्माचार्यों और संस्कृत के विद्वानों का इन प्रश्नों की ओर सबसे पहले ध्यान आकृष्ट होना चाहिए था। क्योंकि इस देश की संस्कृति, सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान की थाती को वे आज तक संजोये चले आ रहे हैं। किन्तु वे तो कुम्भकर्णी निद्रा में पड़े हुए हैं। बौद्ध दीक्षा के ढोल-नगाड़े जब बज रहे थे तो मात्र ४८ घंटे पहले उनकी तन्द्रा टूटी और शास्त्रार्थ का निमंत्रण देकर वे फिर सो गये। भगवान् ने पानी बरसा कर तो उनका मनोरथ पूरा कर दिया। शास्त्रार्थ की घोषणा के स्थान पर यदि पण्डित समाज की ओर से व्यक्तिगत और सामूहिक धर्म की व्याख्या की जाती और सामूहिक धर्म के क्षेत्र से छूआछूत और ऊंच-नीच के भेद को मिटा देने की बात कही गई होती तो परिस्थिति कुछ दूसरी ही होती। आगमशास्त्र, तन्त्रशास्त्र, महाभारत और पौराणिक वाङ्मय से इस प्रकार की व्यवस्था खोज निकालना कोई कठिन कार्य नहीं हैं।

हमारे धर्माचार्यगण, मन्दिरों और मठों के अधिपतिगण एवं साधुसन्तगण आज न तो अपने शास्त्र और संस्कृति से ही और न ईसाई मिशनरियों की सेवा-भावना से ही कोई प्रेरणा ले रहे हैं। यह पूरा समुदाय अपने पूर्वजों की संचित निधि का मात्र उपभोक्ता बन बैठा है। इसकी अपनी कुछ कमाई नहीं है। यह स्थिति भारतीय राष्ट्र, समाज और संस्कृति को कहाँ ले जायगी ? उक्त समुदाय की नई पीढ़ी, नया रक्त भी क्या देश की इस दुदशाग्रस्त परिस्थिति पर विचार करने को नहीं जागेगा ? इस पवित्र धार्मिक और सांस्कृतिक कार्यक्षेत्र में भी क्या अब राजनीतिज्ञों को ही आना पड़ेगा ?

सारनाथ की बौद्ध दीक्षा की घटना के पीछे दो प्रकार की प्रवृत्तियां कार्य करती नजर आती हैं। पहली प्रवृत्ति का कहना है कि विष्णु के चौबीस ही नहीं, दस अवतारों में भी भगवान् बुद्ध परिगणित हैं। इसलिये बुद्ध की शरण में जाना धर्म-परिवर्तन नहीं, अपितु उसी प्रकार का एक धार्मिक कृत्य

है, जैसा कि शैव अथवा वैष्णव दीक्षा ग्रहण करते समय किया जाता है। इसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति इसको शुद्ध धर्म-परिवर्तन मानती है और यही प्रवृत्ति नव दीक्षित बौद्धों से यह प्रतिज्ञा कराती है कि अब हम राम और कृष्ण, विष्णु और शिव को अपना देवता नहीं मानेंगे। ढाई हजार वर्ष पहले का ब्राह्मणवाद का भूत आज भी उसका पीछा नहीं छोड़ रहा है। औपनिषद ज्ञान, शैव और वैष्णव आचार्यों के आन्दोलन, सिद्ध, नाथ और सन्तों के अमृतमय उपदेश इनको आकृष्ट नहीं कर पाते। इनकी दृष्टि में मात्र बौद्ध धर्म ही भारतीय संस्कृति है। इसके अतिरिक्त सब कुछ बकवास है, तुच्छ है, हेय है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद धर्मचक्र, अशोक स्तम्भ, पंचशील, धर्मनिरपेक्ष राजनीति सब कुछ बौद्ध संस्कृति से ही तो लिया गया है। इस देश की जनता जानती है कि चीन के द्वारा तिब्बत की सहधर्मी प्रजा के क्रूर दमन के साथ ही इस नाटक पर दुःखान्त पटाक्षेप पड़ चुका है। चीन का आक्रमण हो या पाकिस्तान का, चीन की धमकी हो या अमेरिका की, भारत की परेशानी हो या बंगला देश की, सभी अवसरों पर धर्मचक्र और पंचशील की छत्रछाया में पल रहे समस्त बौद्ध देशों की प्रज्ञा और करुणा की परीक्षा हो चुकी है।

भगवान् पतंजलि ने योगसूत्र में पांच प्रकार की चित्त की वृत्तियों का वर्णन किया है। उनमें से एक है विकल्प। विकल्प वह वृत्ति है, जिसमें कि वस्तु का अस्तित्व न रहने पर भी शब्दों के द्वारा उसकी काल्पनिक सत्ता का महल खड़ा कर दिया जाता है—"शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।" वर्तमान युग में इस वृत्ति का बड़ा प्राबल्य है। प्रायः सभी राजनीतिक दल इसी का सहारा लेते हैं। वे विपक्षी दलों के किये-कराये सभी कार्यों को शब्द-जाल से झुठला देते हैं और अपने दल के कार्यों का शाब्दिक महल खड़ा करते रहते हैं। बौद्ध दीक्षा के प्रसंग में भी इस विकल्प वृत्ति का अद्भुत व्यापार देखा जा सकता है, जबकि इसके आयोजक कहने लगते हैं कि—"राजा राम-मोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक का सामाजिक समता, न्याय और सम्मान का सुधारवादी आन्दोलन इस देश में पूर्णतः विफल हो चुका है। इतना ही नहीं, भारतीय संविधान भी इस प्रसग में अकर्मण्य सिद्ध हुआ है। ऐसी स्थिति में सामाजिक घुटन से ऊब कर दलित और पीड़ित बहुसंख्यक जनता ने भारतीय संस्कृति की उदार भावनाओं से परिपूर्ण बौद्ध धर्म को स्वीकार करने का निर्णय ले लिया है।" इससे अच्छा विकल्प का उदाहरण और कहाँ मिल सकता है। सभी जानते हैं कि राजा राममोहन राय से लेकर महात्मा गांधी तक के सामाजिक समता के सुधारवादी आन्दोलन व्यर्थ नहीं

गये हैं। इन्हीं के कारण आज नगरों से यह विषमता लगभग समाप्त हो रही है और भारतीय संविधान देहातों से भी इस विषम स्थिति का अन्त करने में लगा हुआ है। हम यह भी जानते हैं कि जनता ने अपनी ओर से कोई निर्णय नहीं लिया है, किन्तु उनके अज्ञान और दरिद्रता का नाजायज फायदा उठाकर उनको भरमाया गया है।

वस्तुतः दलित जातियों की मूल समस्या अशिक्षा और विपन्नता की है। किसी विद्वान् की यह उक्ति ठीक ही है कि धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है और अर्थ से सभ्यता का। जब दलित जातियों में भी शिक्षा का पर्याप्त प्रसार होगा, उनके लिये रोजगार के सभी दरवाजे खोल दिये जायेंगे, तो स्वभावतः नवीन सभ्यता का जन्म होगा और तभी वस्तुतः इनकी समस्याओं का समाधान हो सकेगा। कोरे धर्मपरिवर्तन से इनमें परस्पर घृणा और द्वेष का प्रसार ही नहीं होगा, किन्तु मूल समस्या के समाधान में, अशिक्षा और विपन्नता को दूर करने में, सम्भव है इससे बाधा भी पड़े और विलम्ब भी हो।

कहा जाता है कि भारत में बुद्ध देव को भुला दिया गया है। बौद्ध तत्त्वज्ञान को यहाँ से देश निकाला मिल चुका है। यह उक्ति भी मात्र विकल्प का व्यापार ही है। प्रत्येक हिन्दू परिवार नित्य, नैमित्तिक अथवा काम्य कर्म को आरम्भ करते समय अपने संकल्प वाक्य में प्रति दिन बुद्धदेव का स्मरण करता है। स्वर्गीय म० म० पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य ने अपने ग्रन्थों में यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि गौडपाद की माण्डूक्यकारिका एवं भगवत्पाद शंकराचार्य के ग्रन्थों में बौद्ध शून्यवाद ने ब्रह्मवाद का नया कलेवर धारण किया है। यह छिपा नहीं है कि योगवासिष्ठ और काश्मीर के शैवदर्शन में विज्ञानवादी बौद्ध दर्शन ने नया स्वरूप लिया है। भारत से बौद्ध धर्म की संकीर्णता और हठवादिता ही निकाली गई थी, उसका तत्त्वज्ञान नहीं।

उपनिषद्, सांख्य-योग, पांचरात्र, पाशुपत और प्राचीन आजीवक तत्त्वज्ञान की ऊर्वरा भूमि में ही बौद्ध तत्त्वज्ञान का विकास हुआ था और परवर्ती शैव, वैष्णव, नाथ, सिद्ध और सन्तों का साहित्य भी इन सभी धाराओं से आप्यापित रहा है, केवल बौद्धधारा से नहीं। यूरोपीय विद्वानों के द्वारा नये सिरे से भारतीय विद्या का अनुसन्धान प्रस्तुत करने के साथ यहाँ पर बौद्ध तत्त्वज्ञान का अध्ययन सांस्कृतिक आधार पर पुनः प्रतिष्ठित हुआ, धार्मिक आधार पर नहीं। आचार्य नरेन्द्रदेव इस शृखला की मजबूत कड़ी थे।

वैदिक कर्मकाण्ड की दलदल से निकला बुद्धिवादी तत्त्वज्ञान वज्रमान के रहस्यवाद में डूब नहीं जायगा। भारत में पिछले एक हजार वर्ष का धर्म-परिवर्तन का इतिहास भय, छल-छद्म और प्रलोभनों से भरा है। भावात्मक एकता और अखण्ड भारतीय संस्कृति का निर्माण और रक्षा केवल बुद्ध की शरण में जाने से नहीं, अपितु—

यद्यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव च।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसंभवम्॥

गीता के इस वचन के अनुसार प्रभु ईसामसीह तथा पैगम्बर मुहम्मद साहब को भी भगवान् का स्वरूप मानकर राम-कृष्ण, शिव-विष्णु, बुद्धमहावीर, ईसामसीह मुहम्मद, सन्त गुरु इन सबकी शरण में जाने से होगा। स्वतन्त्र भारत में धर्म-परिवर्तन की घटना कथाशेष रह जानी चाहिये और भारत में बस रही पूरी जनता का इस देश के पूरे इतिहास के साथ तादात्म्यबोध जाग्रत होना चाहिये।

डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की इस उक्ति से हम पूरी तरह सहमत हैं कि इस देश को यदि बचाना है तो ऊंच-नीच की व्यवस्था हटानी पड़ेगी। विशिष्ट गुण और आचरण की गरिमा के बिना केवल तथाकथित उच्च जाति, वंश या वर्ण में पैदा होने मात्र से अथवा किसी धर्म या सम्प्रदाय का आचार्य होने मात्र से व्यक्ति को जब तक प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, तब तक इस देश का ही नहीं, संसार का भी भला होने वाला नहीं है।

———

भारतीय चिन्तन परम्परा में नयें दर्शनों की संभावनायें

दर्शंन ही नहीं, प्रायः सभी शास्त्रों का अध्ययन प्राचीन भारतीय परम्परा में ह्रासवाद के आधार पर और आधुनिक पाश्चात्य परम्परा में विकासवाद के आधार पर किया जाता है। केवल धारणा ही नहीं, यह वस्तुस्थिति है कि ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक शाखा में भारत में पूर्ववर्ती काल में जिस तरह के प्रौढ़ ग्रन्थों का निर्माण हुआ, परवर्ती काल में वह स्थिति देखने को नहीं मिलती। समस्त सूत्र ग्रन्थ, पतंजलि का महाभाष्य, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भरत का नाट्यशास्त्र, वात्स्यायन का कामशास्त्र, चरक-सुश्रुत आदि संहिताएं— ये सब ऐसे ग्रन्थ हैं कि परवर्ती काल में इनकी टक्कर का कोई ग्रन्थ नहीं बना। इन ग्रन्थों के रचयिता त्रिकालज्ञ ऋषि हैं। इस पृष्ठभूमि में यह सोचना स्वाभाविक है कि शास्त्र की परम्परा का ह्रास हो रहा है। मध्यकालीन महान् दार्शनिक आचार्य उदयन को इसीलिये लिखना पड़ा—

> जन्मसंस्कारधृत्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः।
> ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्॥

इसके विपरीत आधुनिक पाश्चात्य दृष्टिकोण विकासवाद के आधार पर सभी शास्त्रों का अध्ययन करना है। यूनान और रोम के चिन्तकों का ये ऋषितुल्य आदर करते हैं, किन्तु इनका दर्शन सुकरात और अरस्तू में ही समाप्त नहीं हो जाता। ज्ञान और विज्ञान की प्रत्येक शाखा में, चिन्तन के विभिन्न क्षेत्रों में यूनान और रोम की ही नहीं, दुनियां की सभी प्रबुद्ध-चिन्तन-धाराओं की सहायता लेकर इन्होंने उन उन शास्त्रों का विकास तो किया ही है, साथ ही ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी उद्भावनाएं भी की हैं, जिनसे कि आज की सारी दुनियां लाभान्वित ही नहीं, संचालित भी है।

इस वैषम्य के मूल कारणों की खोज करना और भारत की आज की परिस्थिति में उससे होने वाले हानि-लाभ का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना, आज के चिन्तक का आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम यथामति अपने कुछ विचार यहाँ प्रस्तुत करना चाहते हैं।

अपने विचारों को प्रस्तुत करने के लिये हम जागतिक ज्ञान को आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टियों में न बांटकर ऐहलौकिक और पारलौकिक दृष्टियों में बांटना चाहते हैं।

अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति प्रायः प्रत्येक भारतीय दर्शन का लक्ष्य है। मनुष्य जीवन्मुक्त भले ही हो जाय, किन्तु मोक्ष की अभिव्यक्ति इस शरीर और दुनियां का मोह छूट जाने के बाद ही होती है, अभ्युदय ऐहलौकिक भी है और पारलौकिक भी। स्वर्ग आदि पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति भी इस शरीर के छूट जाने के बाद ही होगी। भारतीय दर्शनों में ऐहलौकिक अभ्युदय को हेय दृष्टि से देखा जाता है और पारलौकिक अभ्युदय को उपादेय। फलतः इनमें ऐहलौकिक अभ्युदय सम्बन्धी विचारों को बहुत कम स्थान मिला है। भारतीय वाङ्मय की एक शाखा आगमशास्त्र या तन्त्रशास्त्र ने एक ही जन्म में भोग और मोक्ष, अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त कराने की बात की, किन्तु इसमें भी व्यक्तिगत भावना ही प्रधान रही है। कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन और आध्यात्मिकता में वैयक्तिक उन्नति का तो चूडान्त उत्कर्ष हुआ है, किन्तु साथ ही सामूहिक उन्नति का पक्ष अत्यन्त दुर्बल है। इसी तरह से इसमें ऐहलौकिक दृष्टि की अपेक्षा पारलौकिक दृष्टि का प्राबल्य हो गया है। साधारण भारतीय की यह दृढ़-मूल धारणा है कि संसार अवनति की ओर तेजी से बढ़ रहा है। इसको रोका नहीं जा सकता। कर्मवाद और भाग्यवाद उसको इसी ओर ढकेलते हैं। उसका सारा पुरुषार्थ कलिकाल की अर्गला से अवरुद्ध है।

पारलौकिक दृष्टि के विषय में हमारे जैसे सामान्य चिन्तक कुछ कह सकने के अधिकारी नहीं हैं। महात्मा बुद्ध ने भी कुछ प्रश्नों को अव्याकरणीय माना था। ऐहलौकिक दृष्टि के सन्दर्भ में हम कुछ विचार कर सकते हैं और यह हुआ भी है। धर्मशास्त्रकारों ने कुछ विषयों में आगमशास्त्र और तन्त्रशास्त्र को श्रुति और स्मृति के समकक्ष मान्यता दी है। कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रों में आचार (लोकव्यवहार) को बहुत महत्व दिया गया है। कलिवर्ज्य प्रकरण को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया जा सकता है, जिसमें कि श्रुतियों और स्मृतियों की अनेक मान्यताएं स्थगित कर दी गई हैं। इस स्थगन का

कारण लोकमानस (लोकव्यवहार) ही है। 'यद्यपि 'शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्' इस सूक्ति में 'नाचरणीयम्' पद की द्विरावृत्ति लोकव्यवहार के विरुद्ध आचरण का दृढ़ता से निषेध करती है।

आज दुनियां सिमट गई है। विभिन्न दृष्टियों और व्यवहारों में टकराव हो रहा है। यह निश्चित है कि इस टकराव में उत्कृष्ट तत्त्व ही बच रहेंगे। दुनियां भारतीय तत्त्वज्ञान को आशाभरी दृष्टि से देखती है, किन्तु साथ ही भारतीय जीवन की विसंगतियों से उसे आश्चर्य भी होता है। यह कहा जा सकता है कि अपने ऐहलौकिक जीवन में समाज के प्रति और राष्ट्र के प्रति पाश्चात्य संस्कृति अधिक ईमानदार है। "अजगर करे न चाकरी," "अपना मतलब गांठने के लिये गधे को बाप बनाना", 'समरथ को नहिं दोष गुसाईं", "स्वकार्य साधयेद् धीमान् स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता", "आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्"— जैसे वाक्य स्वस्थ सामाजिक विकास में सहायक नहीं हो सकते। पारलौकिक विधि वाक्यों की परीक्षा शास्त्रीय पद्धति से की जाय, यह तो ठीक है, किन्तु ऐहलौकिक दृष्टि से सम्बद्ध प्रत्येक छन्दोबद्ध उक्ति को विधि वाक्य नहीं माना जाना चाहिये। इसके लिये तो हमें—पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते' कालिदास की इस उक्ति का अनुसरण करना ही चाहिये। आज की दुनियां को भारतीय संस्कृति, दर्शन और धर्म के उदात्त तत्त्वों का अवदान दे पाने की स्थिति में अपने को रखने के लिए यह आवश्यक है कि पूरे भारतीय तत्त्वज्ञान की पृष्ठभूमि में ऐहलौकिक दृष्टि से भी व्यक्तिगत और समाजगत आचारों की परीक्षा की जाय।

भारत में दर्शन को बुद्धि का विलसमात्र कभी नहीं माना गया है। इतना अवश्य है कि इसमें पारलौकिक दृष्टि से व्यक्तिगत उन्नति पर अधिक जोर दिया गया है। 'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' जैसे वाक्यों में प्राणी मात्र की दुख से निवृत्ति की कामना की गई है, किन्तु इसमें भी पारलौकिक दृष्टि ही काम कर रही है। सत्ययुग में होने वाले ऐहलौकिक विकास को हमने भगवान् काल के सुपुर्द कर दिया है। इसके विपरीत 'स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा' सरीखे आगमिक एवं तान्त्रिक दर्शन के प्रतिपादक वाक्यों के सहारे अपने में विश्वाहन्ता का विकास कर अरविन्द जैसे महायोगी इसी धरती पर दिव्य मानवता के अवतार की बात करते हैं और महामनीषी श्रद्धेयचरण श्री गोपीनाथ कविराज महोदय अखण्ड महायोग के माध्यम से इस स्थिति को लाना चाहते हैं।

जब हम भारतीय चिन्तन धारा में नये दर्शनों की संभावनाओं पर विचार करते हैं, तो उस समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि वह केवल बुद्धि

विलास के लिये न होकर ऐहलौकिक दृष्टि से समस्त मानवता के कल्याण के लक्ष्य को अपने सामने रखे। एक अखण्ड विश्वसंस्कृति का विकास इसका प्रधान उद्देश्य होना चाहिए।

ऐहलौकिक सामूहिक मुक्ति, अर्थात् समग्र मानवता के ऐहलौकिक कल्याण के लिए भारतीय दर्शन में नूतन दृष्टि का उन्मेष होने में हमें प्राचीन विचार-धाराओं के साथ भी किसी टकराव की आशंका नहीं मालूम पड़ती। ऐसा करके ही हम व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामूहिक उन्नति की भावना की, पारलौकिक उपलब्धि के साथ ऐहलौकिक नैतिकता, की सीमित रूप में ही सही, ह्रासवाद के स्थान पर विकासवाद और भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषकारवाद की भारतीय जनमानस में प्रतिष्ठा करा सकते हैं। ऐसा करते समय हमें ऐहलौकिक सामूहिक दृष्टि का विकास करने के लिये आधुनिक दृष्टि से सहायता लेने में परहेज नहीं करना चाहिये। वराहमिहिर की यह उक्ति इस प्रसंग में ध्यान देने योग्य है—"वृद्धा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।" दर्शन की नूतन धाराओं की सार्थकता इसी में है। तभी हम समस्त मानवीय विचारों में समन्वय स्थापित कर एक अखण्ड विश्वसंस्कृति के निर्माण को साकार रूप देकर समग्र मानवता का कल्याण कर सकते हैं।

———

संस्कृत और भारतीय संस्कृति का भविष्य[1]

'तुनोक्रमपि नौक्तम्' किसी ग्रन्थ की इस पंक्ति के परस्पर विरोधी से प्रतीत हो रहे अर्थ को न समझ पाने के कारण अध्यापक परेशान थे। अध्यापन बन्द कर वे चिन्तामग्न हो उठे और कक्षा छोड़ बाहर चले गये। कुशाग्र बुद्धि शिष्य ने अध्यापक की परेशानी भांप ली और उसने गुरु की अनुपस्थिति में ग्रन्थ में इस प्रकार का संशोधन कर दिया—'तुनोक्तमपिनोक्तम्' (तुना उक्तम्, अपिना उक्तम्)। थोड़ी देर बाद अध्यापक ने ग्रन्थ को पुनः देखा और उसको पंक्ति का अर्थ स्पष्ट हो गया। ग्रन्थ का संशोधन करने वाले शिष्य को अध्यापक ने 'गुरु' पदवी से विभूषित किया। ये थे प्रसिद्ध मीमांसक भट्ट कुमारिल और शिष्य थे प्रभाकर भट्ट, जिनका दार्शनिक सिद्धांत बाद में 'गुरुमत' के नाम से प्रख्यात हुआ।

यह किंवदन्ती यहाँ इस अभिप्राय से उद्धृत की गयी है कि प्राचीन संस्कृत शिक्षा की यह विशेषता रही है कि उसमें 'तु' और 'अपि' शब्द का प्रयोग भी बहुत सावधानी से किया जाता था और अध्यापक इनका निगूढ़ अभिप्राय शिष्यों को पारस्परिक रूप से समझाता चला आ रहा था। प्राचीन भाषा के वास्तविक अर्थ और अभिप्राय को समझते रहने के लिए शिक्षा की यह पद्धति नितान्त आवश्यक है। किसी भी प्राचीन अथवा नवीन भाषा के निगूढ़ अभिप्राय को समझने के लिए इसी पद्धति से सहारा मिल सकता है। यही नहीं, प्राचीन ग्रन्थों के शुद्ध संस्करणों को प्रस्तुत करने के लिए भी इस पद्धति की आवश्यकता है। आज प्राचीन पद्धति के विद्वान् ग्रंथ सम्पादन की नवीन विधि से परिचित नहीं हैं और नवीन पद्धति के विद्वान् पंक्तियों पर अपना ध्यान केन्द्रित न कर पा सकने के कारण इन ग्रंथों का संशोधन ठीक से नहीं कर पाते। इस प्रकार केवल शास्त्रों की रक्षा और परिष्कार के लिए ही नहीं,

---

१. दैनिक आज, वाराणसी (१३ व २० दिसम्बर, १९७२) में प्रकाशित।

नवीन ज्ञान-विज्ञान और नवीन अनुसंधान की उद्भावना के लिए भी संस्कृत की प्राचीन और नवीन उभय शिक्षापद्धतियों के आनुपातिक सुचारु समन्वय की आवश्यकता है।

प्राचीन पद्धति की संस्कृत शिक्षा भी जिन शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है, उनकी रक्षा करने में तो यथाकथंचित् समर्थ हुई है, किन्तु वेद ही नहीं, प्राचीन शिल्प, कला आदि के, जिनका कि संस्कृत की शिक्षा पद्धति से ही नहीं, आधुनिक समाज से भी सम्बन्ध छूट गया है, पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने में असमर्थ रही है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का द्वितीय अध्याय, जिसमें कि नाट्य शाला के निर्माण की विधि बतायी गयी है, अग्निपुराण के शिल्पशास्त्रीय प्रकरण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण का चित्र प्रकरण आदि ऐसे स्थल हैं, जिनके कि स्पष्ट अभिप्राय को समझने का हमें अभी प्रयत्न करना है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के चतुर्थ अंक में अभिनय के लिए प्रासंगिक अनेक निर्देश दिये गये हैं। उनका अभिप्राय आज दुरूह हो चुका है। संस्कृत वाङ्मय की अनेक शाखाएं आज उपेक्षित पड़ी हैं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि प्राचीन विद्वान् अष्टादश भाषा और अनेक लिपियों के विशेषज्ञ रहे हैं। ऐसा भी समय आया कि ब्राह्मी और खरोष्ट्री आदि प्राचीन लिपियों को पढ़ पाने वाले इस देश में नाम-शेष हो गये। आज भी संस्कृत विश्वविद्यालय और उसके प्रसिद्ध पुस्तकालय सरस्वती भवन में एक दो व्यक्तियों को छोड़कर आधुनिक अथवा प्राचीन भारतीय लिपियों को पढ़ पाने की उत्कंठा भी किसी में नहीं जागी है। प्राचीन शिलालेखों और मुद्रालेखों के पढ़ने का काम आज नवीन पद्धति ने संभाल लिया है, किन्तु वहाँ कठिनाई यही है कि पवित पाण्डित्य के अभाव में वे कभी-कभा अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। आज से ५०-६० वर्ष पूर्व राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में इसकी व्यवस्था थी। विश्वविद्यालय बन जाने के बाद इन सभी उपेक्षित विषयों के अध्ययन और अनुसन्धान की यहाँ व्यवस्था होनी चाहिए थी। संस्कृत शिक्षा का उक्त समस्याओं के समाधान करने की मंशा से ही स्वर्गीय डाक्टर सम्पूर्णानन्द जी ने संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की थी।

संस्कृत शिक्षा के सामने सबसे बड़ी बाधा यह है कि संस्कृत शिक्षा को भी प्रान्तीय विषय बना दिया गया है। प्रत्येक राज्य की संस्कृत शिक्षा की अपनी व्यवस्था है और दूसरे राज्य की संस्कृत शिक्षा के साथ इसका सम्पर्क-

सूत्र जोड़ने वाली कोई कड़ी नहीं है। फलतः संस्कृत शिक्षा में भी आज प्रान्तीय भाषाओं की संकीर्णता ने प्रवेश कर लिया है और उसका अखिल भारतीय स्वरूप लुप्त होता जा रहा है। यह संकीर्ण भावना कमोवेश सभी राज्यों में संस्कृत संस्थाओं में अपना प्रभाव दिखला रही है। दूर दक्षिण भारत के किसी कोने में भी पहले संस्कृत भाषा के माध्यम से सम्पर्क बनाया जा सकता था, किन्तु अब नागरी लिपि के साथ संस्कृत भाषा और शिक्षा को भी तमिलनाडु से जबरदस्ती निकाला जा रहा है। परिणामतः केवल तमिलनाडु में ही नहीं, पूरे देश में एक राष्ट्रीयता की भावना शिथिल पड़ती जारही है। देश में एक राष्ट्रीयता और एक संस्कृति के विकास के लिए यह आवश्यक है कि संस्कृत शिक्षा को प्रान्तीय विषयों की सूची से निकाल कर केन्द्रीय सूची में शामिल किया जाय और प्रत्येक राज्य की शिक्षा में इसका अनिवार्य रूप से समावेश हो।

यह कार्य जब तक सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक के लिए केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना से ही इसकी कुछ अंशों में क्षतिपूर्ति हो सकती है। वाराणसी के दैनिक 'आज' ने अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय को ही केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिणत करने का सुझाव दिया है। अन्य प्रबुद्ध पाठकों ने भी इसी वृत्तपत्र में प्रकाशित अपने पत्रों में इस विचार को आगे बढ़ाया है कि केन्द्रीय संस्कृत संस्थान के द्वारा चलाये जा रहे विद्यापीठों एवं वहाँ की परीक्षा को इसी विश्वविद्यालय से जोड़ दिया जाय। ऐसा करने से सरकार को आर्थिक बचत भी होगी।

संस्कृत विश्वविद्यालय तथा पाठशालाओं में प्राचीन शिक्षा पद्धति जिस रूप में विद्यमान है, उसके क्षेत्र विस्तार की तथा जो कुछ हमारे पास है, उसको ईमानदारी से शिष्यों को सौंपने की जिम्मेदारी का बोध होना अत्यन्त आवश्यक है। थोड़े से छात्र ही मनोयोगपूर्वक इस ओर लगे हैं। इस प्रकार का वातावरण बनाने की आवश्यकता है कि अधिकाधिक छात्र इस ओर आकृष्ट हों। यहां व्याकरण का अध्ययन प्राचीन अथवा नवीन पाणिनि व्याकरण तक ही सीमित है। इसके लिए आवश्यक है कि संस्कृत की सभी पाणिनि-भिन्न व्याकरण शाखाओं के परिज्ञान के साथ आधुनिक भाषा विज्ञान से भी इन छात्रों को परिचित कराने वाले प्रवचनों की यहां नियमित व्यवस्था करायी जाय। साहित्य के अध्यापन के साथ पाश्चात्य आलोचना शास्त्र का वेदान्त के साथ मेटाफिजिक्स का, वैशेषिक दर्शन के साथ भौतिक विज्ञान और रसायन शास्त्र का, न्याय के साथ तर्कशास्त्र का और धर्मशास्त्र के साथ आधुनिक विधिशास्त्र का समन्वित अध्ययन भी अपेक्षित है।

आज देश में अनेक चिकित्सा पद्धतियां प्रचलित हैं। इन सब में समन्वय स्थापित कर देश में केवल एक भारतीय चिकित्सा पद्धति ही चलनी चाहिये, जिसमें सभी चिकित्सा पद्धतियों की विशेषताओं का समावेश हो। इस चिकित्सा पद्धति का मूल आधार आयुर्वेद हो सकता है। इस सम्बन्ध में अभी हाल में 'आज' में प्रकाशित 'अग्निवेश' जी के निबन्ध दिशा-निर्देश करते हैं। आज आवश्यकता है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रतिपादित दिनचर्या वाले प्रकरणों का सामान्य भारतीय स्वास्थ्य शिक्षा में समावेश हो। आयुर्वेद के ग्रन्थों में चिकित्सकों के आवश्यक कर्त्तव्यों का निर्देश है। आजकल के मेडिकल कालेजों के पाठ्यक्रम में इनका समावेश अविलम्ब होना चाहिये। साथ ही आयुर्वेद में भी आधुनिक चिकित्सा पद्धतियों की विशेषताओं का समावेश निःसंकोच किया जाना चाहिये। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में रसायन विद्या के साथ अन्य अनेक चिकित्सकीय प्रयोग भी उपलब्ध हैं। इनका आयुर्वेद के साथ अनुसन्धानात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। उपयुक्त प्रयोगशाला के माध्यम से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

आज का विज्ञान गणित और खगोल विद्या में समन्वय स्थापित कर चन्द्रमा तक पहुंच चुका है। हमारा ज्योतिष ज्ञान स्थिर है। स्वर्गीय डाक्टर सम्पूर्णानन्द के प्रयत्न से संस्कृत विश्वविद्यालय के साथ एक आधुनिक वेधशाला स्थापित हुई थी, किन्तु अब वह नैनीताल चली गयी है और इसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। छोटी दूरबीन के यहां स्थापित होने की बात थी, किन्तु अब उसकी कोई चर्चा नहीं सुनाई पड़ती। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर की भावना का अनुसरण कर आज हमको भारत की गणित और सिद्धान्त ज्योतिष का आधुनिक गणित और खगोल विद्या के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

हमें यह भी देखना है कि प्राचीन राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का आन्वीक्षिकी के साथ सम्बन्ध जोड़ने की धुन में क्या कामन्दकीय नीतिसार और उसकी टीका उपाध्याय निरपेक्षा का नव्य न्याय की परिष्कार पद्धति से अध्ययन करने मात्र से हम अमेरिकी राष्ट्रपति की परराष्ट्रनीति के निर्माता डाक्टर हेनरी किसिंगर के भू-मण्डलीय शक्ति-सन्तुलन के सिद्धांत के चक्रव्यूह से पूरे विश्व की बात तो क्या अपने देश को भी बचा सकेंगे? आज आवश्यकता है कि उपलब्ध सभी नीति ग्रन्थों के अतिरिक्त पुराणों और विशेषकर महाभारत में वर्णित कणिक, विदुर, भीष्म आदि के राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ भारतीय वाङ्मय की बौद्ध और जैन शाखाओं में वर्णित पूरे राजनीति

शास्त्र का पाश्चात्य राजनीतिक सिद्धान्तों के साथ तुलनात्मक अध्ययन कर नवीन भारतीय राजनीति की प्रतिष्ठा की जाय।

अन्य भारतीय कलाओं और विद्याओं के साथ भारतीय वास्तुविद्या, स्थापत्य कला भी अब नाम-शेष होने जा रही है। गुजरात, उड़ीसा और दक्षिण भारत में भारतीय स्थपतियों के वंशज स्वतन्त्र भारत में भी घुटन-भरा जीवन बिता रहे हैं।

पारसी धर्मग्रन्थ जेन्दावेस्ता की भाषा का ऋग्वेदिक भाषा से अतीव साम्य है। मध्य-एशिया के बोगाजकोई स्थान पर उपलब्ध इष्टिका लेखों में इन्द्र, वरुण और नासत्य इन वैदिक देवताओं का उल्लेख मिलता है। मोहन-जोदड़ों और हड़प्पा की संस्कृति में मिस्र की प्राचीन सभ्यता से समानता मिलती है। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में बौद्ध धर्म के साथ शैव और वैष्णव धर्म का भी प्रसार हुआ। तिब्बत, चीन, जापान, कोरिया और मगोलिया में ही नहीं, आज रूसी गणतन्त्र के अधीन मरुभूमि में भी कभी बौद्ध धर्म और संस्कृति का व्यापक प्रभाव था और बहुत कुछ अंशों में अब भी है। प्राचीन पद्धति की संस्कृत शिक्षा के साथ इनका तादात्म्य होने पर ही सही माने में प्राच्य और पाश्चात्य, प्राचीन और नवीन ज्ञान विज्ञान के समन्वय के साथ देश में नवीन अखण्ड भारतीय संस्कृति का आविर्भाव हो सकेगा।

कुछ विचारकों की कल्पना है कि दिल्ली जैसे देश की राजनीतिक राजधानी है, उसी भांति सांस्कृतिक राजधानी का गौरव काशी को दिया जाना चाहिये। काशी अपने आप में पूरे देश का प्रतिनिधित्व करती है। सभी राज्यों के प्रबुद्ध जन यहाँ निवास करते हैं। काशी के विभिन्न अंचलों में समूह रूप से बसी विभिन्न राज्यों की जनता को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि पूरा भारत सिमट कर यहाँ आ बसा है। देश की इस सांस्कृतिक राजधानी में स्थापित केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय ही देश में भावात्मक एकता, राष्ट्रीयता और एक संस्कृति के प्रसार का प्रेरणा केन्द्र बने और इसी के अधीन देश की पूरी संस्कृत शिक्षा का संचालन हो। किन्तु यह प्रयोग सफल तभी हो सकता है जब कि काशी का शासन और इस विश्वविद्यालय का नियन्त्रण राजनीतिक वादों के प्रभाव और क्षुद्र संकीर्ण स्वार्थों से उन्मुक्त उदारचेता असम्प्रदायिक हाथों में हो। तभी संस्कृत शिक्षा और भारतीय संस्कृति के उज्जवल भविष्य की आशा की जा सकती है।

———

संस्कृत शिक्षा का व्यापक दृष्टिकोण

भारत में अपने राज्यकाल में अंग्रेज अधिकारियों ने संस्कृत भाषा को केवल पंडितों की भाषा बनाने का पूरा प्रयत्न किया और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये इसको उर्दू भाषा के साथ जोड़ दिया, जिसको कि अघोषित रूप में इन्होंने मुल्ला-मौलवियों की भाषा मान लिया था। ये लोग इन दोनों भाषाओं को धार्मिक आधार पर एक ही तराजू से तोलते थे और इसका पूरा ख्याल रखा जाता था कि जो सुविधा एक भाषा को दी जाय तो वैसी ही सुविधा दूसरी भाषा को भी मिले। विशेषकर इसका पूरा ध्यान रखा जाता था कि शासन यदि संस्कृत को कोई सुविधा देता है, या उसके लिये कुछ करता है, तो उसी अनुपात में उर्दू भाषा के लिये भी किया जाय। शासकों के इस दृष्टिकोण के बावजूद विगत २०० वर्षों में यूरोपियन विद्वानों के अथक परिश्रम से, जिनमें कि अंग्रेज विद्वानों की संख्या भी काफी है, संस्कृत भाषा को विश्व की प्राचीनतम भाषा के रूप में अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त हुई है।

अंग्रेज अधिकारी अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में तो संस्कृत भाषा के बढ़ते प्रभाव को रोक न सके, किन्तु भारत में अपने मानस पुत्रों के मन में ही नहीं, साधारण जनता में भी यह भावना फैला सके कि संस्कृत केवल पण्डितों की भाषा है। अपने क्षुद्र स्वार्थों की सिद्धि होते देख पण्डित समुदाय के एक बड़े वर्ग ने भी आशंकित दुष्परिणामों को आंख-ओझल कर, इस भावना को प्रोत्साहन ही दिया, इसको रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस कार्य में इनको अंग्रेजों का ही नहीं, उनके मानस पुत्रों का भी पूरा सहयोग मिला। इसी का यह परिणाम है कि स्वतन्त्र भारत में २६ वर्ष की लम्बी कालावधि के बाद भी जन-मानस में संस्कृत के प्रति कोई विशेष अनुराग नहीं जागा है, इसके अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व को नहीं समझा है। आज विश्व की इस प्राचीनतम

भाषा को धार्मिक आधार पर आधुनिकतम भाषा उर्दू के साथ जोड़ दिया गया है।

यह निर्विवाद सत्य है कि काशी चिरकाल से संस्कृत शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रही है और अब भी है। यहाँ की शिक्षा-पद्धति का पूरे देश की प्राचीन पद्धति की संस्कृत शिक्षा प्रणाली पर व्यापक प्रभाव है। पहले के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय तथा अब के संस्कृत विश्वविद्यालय को संस्कृत शिक्षा की नब्ज के रूप में परखा जा सकता है। यहाँ के यूरोपियन एवं भारतीय अध्यक्षों और विद्वानों का इसको अन्तरराष्ट्रीय भाषा बनाने में जिस प्रकार प्रशंसनीय योगदान रहा है, उसी तरह इसको कोरे पण्डितों की भाषा बने रहने देने के लिये किये गये आन्दोलनों का संचालन भी यहीं से हुआ है।

संस्कृत की विश्वव्यापकता एवं उपयोगिता

विश्व का प्राचीनतम साहित्य इस भाषा में सुरक्षित है। इसी दृष्टि से पूरे विश्व में इसका धर्म-निरपेक्ष अध्ययन होता है। इस अध्ययन के परिणाम-स्वरूप विगत २०० वर्षों में भाषाविज्ञान, देवताशास्त्र, नृवंशशास्त्र आदि ज्ञान की विभिन्न नवीन धाराओं का उद्‌भव और विकास हुआ है। यूरोपीय एवं भारतीय विद्वानों के अथक परिश्रम से संस्कृत भाषा के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन की एक नई पद्धति विकसित हुई है। इससे देश और विदेश में इस भाषा की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। विश्व की प्राच्य विद्याओं का अध्ययन इसके बिना अधूरा ही नहीं, असंभव है। इस प्रकार यह कहना उचित ही है संस्कृत के कारण भारत को अन्तर-राष्ट्रीय गौरव प्राप्त हुआ है। इस भाषा में भारत की सांस्कृतिक एकता के नहीं, विश्व भारती शान्ति-निकेतन की आदर्श वाक्यावली के 'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' इस अंश के अनुसार पूरे विश्व की सांस्कृतिक एकता के बीज निहित हैं। इस भाषा के अध्ययन के लिये विश्व के अनेक देशों के विश्व-विद्यालयों में संस्कृत विभाग, शोध संस्थान तथा हस्तलेखों के पुस्तकालय स्थापित किये गये हैं और अभी कुछ वर्षों पहले तक यहाँ से देवनागरी लिपि में ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहा है। इस प्रकार संस्कृत भाषा आज पूरी मानव जाति की थाती है। अध्यात्म, धर्म, संस्कृति, सभ्यता, कला, दर्शन, साहित्य, भाषा आदि के क्षेत्र में सभी राष्ट्रों के संभूय समुत्थान की जननी इस भाषा की विश्वव्यापकता और उपयोगिता में किसी को सन्देह नहीं रहना चाहिये।

संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य

संस्कृत की विश्वव्यापकता एवं उपयोगिता के अनुरूप ही हमें संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करना चाहिये। आज देश में संस्कृत शिक्षा की दो तीन प्रणालियां प्रचलित हैं। पूरे देश में फैली संस्कृत पाठशालाओं और संस्कृत विश्वविद्यालयों में एक प्रकार की, देश-विदेश के आधुनिक विश्व-विद्यालयों और कलाशालाओं में दूसरे प्रकार की पाठ्यपद्धति से संस्कृत शिक्षा दी जाती है। आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुलों में भी संस्कृत शिक्षा की एक विशेष प्रणाली प्रचलित है। शास्त्रों के अध्ययनाध्यापन द्वारा प्राचीन ज्ञान का संरक्षण पहली पद्धति की विशेषता है, जबकि दूसरी पद्धति अनुसन्धान पर अधिक जोर देती है। तीसरी पद्धति अध्ययनाध्यापन की प्राचीन परम्परा में उपेक्षित कुछ विषयों के अध्ययन पर अधिक केन्द्रित है। इन तीनों पद्धतियों में समन्वय स्थापित करने की आवश्यकता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य शास्त्रों में प्रौढ़ पाण्डित्य की अधिगति के साथ संस्कृत वाङ्मय की सभी शाखाओं का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन भी होना चाहिये। यह अध्ययन प्राचीन विषयों तक ही सीमित न रहकर प्राचीन शास्त्रों से सम्बद्ध आधुनिक विषयों को भी अपने में समेटने वाला हो। संस्कृत शिक्षा का लक्ष्य प्राचीन शास्त्रों की रक्षा मात्र न होकर आधुनिक ज्ञान की पृष्ठभूमि में प्राचीन विचारों की पर्यवेक्षा एवं नवीन उद्भावना भी होना चाहिये।

आज से १०० वर्ष पहले काशी के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय ने इस ओर लघु प्रयत्न किया था। तब पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान के कुछ चुने हुए ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुए। संस्कृत विश्वविद्यालय ने भी अपने प्रारम्भिक काल में सम्पूर्णानन्द ग्रन्थमाला के अन्तर्गत आधुनिक विषयों पर दो-चार संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशित किये, किन्तु यह कार्य अब अवरुद्ध है। इस ओर विशेष रूप से प्रयत्न होना चाहिये।

प्रौढ़ पाण्डित्य एक गतिशील शब्द माना जाना चाहिए। आज प्रौढ़ पाण्डित्य की परिभाषा के अन्तर्गत प्राचीन शास्त्रों की पंक्तियों के स्पष्ट अर्थावबोध और विभिन्न प्राचीन शास्त्रीय सिद्धान्तों पर वाद-विवाद की क्षमता द्वारा शास्त्रार्थ प्रणाली की संरक्षा के साथ प्राचीन और आधुनिक

विषयों का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक अध्ययन एवं आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से ग्रन्थों का संपादन भी होना चाहिये। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये तदनुरूप शिक्षा प्रणाली का विकास अपेक्षित है। बहुश्रुतता प्रौढ़ पाण्डित्य का मुख्य आधार रही है। इस बुहुश्रुतता का क्षेत्र अब केवल प्राचीन भारतीय साहित्य ज्ञान ही न रहकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान तक फैलना चाहिये।

केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित संस्कृत आयोग ने संस्कृत की विभिन्न शिक्षा प्रणालियों में धीरे-धीरे समन्वय स्थापित कर पूरे देश में एक ही प्रकार की संस्कृत शिक्षा प्रणाली के विकास पर जोर दिया था। जीविका को भी जब संस्कृत शिक्षा की लक्ष्यकोटि में रखा जाता है, तब इस समन्वित पद्धति के विकास की अतीव आवश्यकता है। यह इसलिये भी आवश्यक है कि देश में शिक्षा प्रणाली के भेद से विभिन्न दृष्टिकोणों वाली जीवन पद्धति या नागरिकता विकसित न हो। आज प्राचीन पद्धति से संस्कृत शिक्षा वाले छात्र जीविका के अनेक क्षेत्रों से वंचित रह जाते हैं और आधुनिक पद्धति से पढ़े व्यक्तियों में संस्कृत शास्त्रों के संरक्षण की क्षमता नहीं के बराबर विकसित होती है। इन समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है, जबकि संस्कृत विश्वविद्यालयों की ओर से यह समन्वय-प्रक्रिया चले। इसका आरम्भ प्रथमा और मध्यमा परीक्षा से होना चाहिये।

संस्कृत शिक्षा की शोचनीय स्थिति

यह सही है कि प्राचीन प्रणाली की संस्कृत शिक्षा-पद्धति में आधुनिक विषयों का समावेश तो कर दिया गया है, किन्तु पाठशालाओं में ही नहीं, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों तक में उनके अध्यापन की समुचित व्यवस्था नहीं है। इस प्रणाली में जीविका के अधिक से अधिक क्षेत्रों की सुलभता की दृष्टि से नवीन विषयों का समावेश किया गया था, किन्तु अध्ययन की सुविधा के अभाव में यहाँ के स्नातक अपेक्षित योग्यता अर्जित नहीं कर पाते। इसी का यह दुष्परिणाम है कि मध्यमा परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त भी यहाँ के स्नातकों की संस्कृत महाविद्यालयों, संस्कृत विश्वविद्यालयों और संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक के कार्यालयों तक में नियुक्ति नहीं हो पाती। दूसरी ओर आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के उपरान्त भी ये परम्परागत पाण्डित्य से भी वंचित रह जाते हैं। एक ही अध्यापक सम्बद्ध विषय में आचार्य कक्षा पर्यन्त अध्यापन कराता है। फलतः उस बहुश्रुतता का

उनमें अभाव रहता है, जो कि प्रौढ़ पाण्डित्य के लिये एक आवश्यक गुण है।

पाठशालाओं तथा पाठ्यपद्धति का पुनःसंघटन

इस दोहरी हानि से बचने के लिये आवश्यक है कि माध्यमिक एवं उच्च स्तर पर शिक्षा का कार्य क्षेत्र विभाजित किया जाय। मध्यमा कक्षा तक की पाठ्यप्रणाली का पुनरीक्षण किया जाय और मध्यमा कक्षा तक की संस्कृत पाठशालाओं का तदनुरूप पुनःसंघटन हो। संस्कृत पाठशालाएं तेजी से अंग्रेजी पाठशालाओं तथा महाविद्यालयों में परिणत हो रही हैं। इस प्रकार के विद्यालयों को लेकर, जहाँ वे नहीं हैं वहाँ पर नये विद्यालयों की स्थापना कर, तथा एक ही स्थान के साधनहीन दो-तीन विद्यालयों के स्थान पर एक साधन-सम्पन्न विद्यालय स्थापित कर, इनमें आधुनिक विषयों के अध्ययन की समुचित व्यवस्था की जाय तथा इन विद्यालयों के लिये इस प्रकार की पाठचपद्धति निर्धारित की जाय, जिससे कि शास्त्री और आचार्य परीक्षा के लिये छात्र तैयार हो सकें।

उच्च स्तर पर बहुप्रचलित विषयों के लिये कुछ चुने हुए महाविद्यालयों को ही मान्यता दी जाय, जिनमें कि मुख्य विषय से सम्बद्ध आधुनिक विषयों के अध्यापन की भी क्षमता हो। अनेक विषय संस्कृत की वर्तमान पठन-पाठन प्रणाली में उपेक्षित हो चुके हैं। इनके अध्यापन की और अनुसन्धान की विश्वविद्यालय में विशेष व्यवस्था की जाय। शास्त्री और आचार्य परीक्षा में अन्य विषयों का समावेश न कर संस्कृत वाङ्मय की कोई एक शाखा और तत्सम्बद्ध आधुनिक विषयों को लेकर पाठचक्रम बनाया जाय, जिससे कि आचार्य परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर प्रौढ़ पाण्डित्य के साथ छात्र में तुलनात्मक समालोचना पद्धति का भी विकास हो सके और अपने विषय के आधुनिकतम विकसित स्वरूप का उसको परिज्ञान हो सके।

इस पद्धति से प्रारंभिक स्तर पर जीविका के वे सभी द्वार यहाँ के छात्रों के लिये खुले रहेंगे, जो कि आधुनिक कलाशालाओं के छात्रों के लिये सुलभ हैं। ऊपर के स्तर पर जीविका के क्षेत्र तब खुलेंगे, जब कि प्रतियोगिता के आधार पर यहाँ के स्नातक प्रौढ़ पाण्डित्य की रक्षा के साथ ज्ञान के आधुनिक विकासक्रम में अपना योगदान किस प्रकार करते हैं। यह तभी सम्भव है, जब कि आधुनिक एवं प्राचीन प्रणाली में तालमेल बैठाया जाय। संस्कृत आयोग के सुझावों के अनुसार इसके लिये आवश्यक है कि उभय प्रणालियों के विशेषज्ञ विद्वानों का परस्पर अंशकालिक आदान-प्रदान किया जाय।

प्रशिक्षण

संस्कृत विश्वविद्यालय के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने यहाँ आधुनिक अनुसन्धान विधि एवं ग्रन्थ-संपादन पद्धति के प्रशिक्षण की भी शिक्षा दे। आधुनिक लिपि-विज्ञान तथा उत्खनन भी इसका अंग होना चाहिये। इनके अभाव में इस विश्वविद्यालय के अनुसन्धान और प्रकाशन का स्तर उन्नत नहीं हो सकता। आजकल यहाँ जो प्रशिक्षण कक्षाएं चलाई जा रही हैं, उससे इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती। प्रणाली से केवल आधुनिक कलाशालाओं के लायक ही स्नातक यहाँ से निकल पाते हैं, उनकी संस्कृत पाठशालाओं के लिये भी कोई उपयोगिता नहीं है। इसका कारण यह है कि यह प्रशिक्षण-विधि आधुनिक शिक्षापद्धति की केवल भोंड़ी नकल है। संस्कृत शिक्षा पद्धति की अपनी विशेषताओं को ध्यान में रख कर इसमें तदनुरूप परिवर्तन अपेक्षित है।

संस्कृत विश्वविद्यालय का विशाल दृष्टिकोण

यह सब तभी सम्भव है, जब कि संस्कृत विश्वविद्यालय का विशाल दृष्टिकोण हो। विश्वविद्यालय अधिनियम तथा अध्यादेश के अनुसार इस विश्वविद्यालय का कार्यक्षेत्र न केवल पूरा भारत, अपितु विदेशों तक विस्तृत है। संस्कृत पूरे विश्व की भाषा है। विश्वसंस्कृति के निर्माण में इसका महत्वपूर्ण अवदान हो सकता है। इस दृष्टि से किया गया उक्त निर्णय उचित ही है। इस विशाल दृष्टिकोण को ध्यान में रख कर ही इसका सचालन होना चाहिये। 'काशी की सारस्वत साधना' जैसे सन्दर्भ ग्रन्थों को देखने से मालुम पड़ता है कि विगत एक हजार वर्ष के बीच काशी में विरचित साहित्य में ९० प्रतिशत अवदान उन विद्वानों का है, जिन्होंने कि देश के विभिन्न स्थानों से आकर काशी को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। आज संस्कृत शिक्षा में इन काशीवासी विद्वत्कुटुम्बों को प्रश्रय नहीं मिल रहा है। फलतः इनमें संस्कृत के पठन-पाठन की परम्परा छूटती जा रही है। विगत २५ वर्षों में यह गति अधिक तीव्र हुई है। यदि यही स्थिति बनी रही तो काशी के इन विद्वत्कुटुम्बों की लम्बी परम्परा नामशेष रह जायगी और विभिन्न स्थानों से नये नये विद्वत्-समुदाय का काशी में आने वाला प्रवाह रुक जायगा।

क्या धर्म-परिवर्तन की गति थमेगी ?

१६-१७ नवम्बर, सन् १९७२ के 'आज' के दो अंकों में 'वर्णाश्रम धर्म, दलित जातियाँ और धर्म-परिवर्तन' शीर्षक एक लेख छपा था। बौद्ध दीक्षा के प्रसंग में लिखे गये उस निबन्ध पर उस समय अधिक चर्चा न चल सकी। किन्तु धर्म परिवर्तन की वही समस्या आज हमारे सामने दूसरे रूप में उपस्थित है और ऐसा लगता है कि इसने सारे देश को झकझोर दिया है।

धर्म परिवर्तन की अच्छाई-बुराई अथवा भूतकाल में किन अच्छे-बुरे तौर-तरीकों का इस्तेमाल कर इसको चरितार्थ किया गया, इन सब बातों पर विचार करने का यह समय नहीं है। अभी तो आत्म-निरीक्षण के रूप में हमें यही देखना है कि वर्णाश्रम की किन-किन रूढ़ भावनाओं में आहत होकर अथवा हिन्दू धर्म के विरुद्ध फैलायी गयी भ्रान्तियों में पड़कर दलित जातियां धर्म परिवर्तन करती हैं।

व्यवस्था के दोष

हमें यह मान लेना पड़ेगा कि वर्णाश्रम की व्यवस्था में कुछ खामियां हैं। इसका विरोध पहले भी हुआ था और अब भी हो रहा है। इस निरन्तर गतिशील विरोध के कारण आश्रम व्यवस्था तो छिन्न-भिन्न हो ही गयी, वर्णाश्रम का शास्त्रीय पक्ष व्यवहार में कोसों दूर चला गया है। आज हिन्दू धर्म का स्वरूप दो प्रकार की भ्रान्तियों के बीच अधर में लटका हुआ है। कुछ भ्रान्तियों को तो हिन्दू धर्म ने स्वयं पाल रखा है और दूसरे प्रकार की भ्रान्तियां आज के वैज्ञानिक युग की देन हैं। वैज्ञानिक युग की चुनौतियों का सामना करने में हिन्दू धर्म पूरी तरह से समर्थ है। काश, वह स्वयं कुछ भ्रान्तियों के कुहासे से बाहर निकल पाता।

हिन्दू धर्म की एक लम्बी परम्परा है। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के नियामक ग्रन्थ रहे हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञीय कर्मकाण्ड की बुद्ध और महावीर ने ही समालोचना नहीं की उपनिषदों ने भी उसको कमजोर नाव बताया (प्लवा एते ह्यदृढा यज्ञरूपाः) और कहा कि अकृत (नित्य) मोक्ष की

१. दैनिक 'आज' वाराणसी से दि० १-१०-८१ के अंक में प्रकाशित।

प्राप्ति कृत (कर्मकाण्ड) से नहीं हो सकती (परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन)। वह ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड अब नामशेष रह गया है। उसी के साथ ब्राह्मण वर्ण का वह वर्चस्व भी कभी का समाप्त हो चुका है। बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और तान्त्रिक धर्मों ने क्रमशः क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण को भी ऊपर उठाने का पूरा प्रयत्न किया है। रामायण, महाभारत और पुराणों ने भी इस ओर कदम उठाया है। 'तन्त्रशास्त्र' ने "दीक्षयेत् श्वपचानपि" कहकर चाण्डाल को भी मोक्ष का अधिकारी माना है। इस पूरी प्रक्रिया के विकास में विद्वान्, तपस्वी ब्राह्मण सदा सबसे आगे रहा है। इस बात को देखते हुए भी हम नहीं देख पा रहे हैं। यह हमारी पहली भ्रान्ति है और इसी के वशीभूत होकर आज सारी विपत्तियों की जड़ ब्राह्मण जाति को मान लिया गया है।

भगवान् वेद व्यास ने महाभारत में सांख्य, योग, पांचरात्र, पाशुपत मत और वेद को समान कोटि का शास्त्र माना है और भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में इन सभी शास्त्रों में समन्वय स्थापित किया था। इसके विपरीत बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में न्याय-वैशेषिक, बौद्ध और जैन मतों के साथ सांख्य-योग, पांचरात्र और पाशुपत मत को भी अवैदिक घोषित कर दिया। ब्रह्मसूत्र के व्याख्याता शंकर, रामानुज, प्रभृति आचार्यों ने इसी मत को स्वीकार किया है। कुछ आचार्यों ने अपने-अपने मत को वेदानुवर्ती सिद्ध करने का अवश्य प्रयत्न किया, किन्तु अन्य सभी शास्त्रों का स्वतन्त्र प्रामाण्य लुप्त सा हो गया और अपशूद्राधिकरण की व्याख्या ने तो सारी विकास-परम्परा को ही अवरुद्ध सा कर दिया। शंकराचार्य पर किसी ने यह आक्षेप किया है कि इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मुहम्मद साहब और उनका आविर्भाव काल प्रायः आस-पास है। इस्लाम ने जब अपनी विश्वविजय यात्रा पूरी की, शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म अपने देश में भी सिमटता गया। इस तथ्य को कौन अस्वीकार कर सकता है ?

शंकराचार्य का एक दूसरा भी स्वरूप है कि उन्होंने प्रपंचसार के माध्यम से स्मार्त धर्म की प्रतिष्ठा की। भगवद्गीता के बाद समन्वय का यह दूसरा प्रयास था। प्रपंचसार में वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर और गाणपत्य मतों के आधार पर स्मार्त पंचायतन पूजा का विधान है। यह स्मार्त पूजा पद्धति ही आज के हिन्दू धर्म का प्रमुख आधार है। वैष्णवों ने अपनी अलग पहचान अवश्य बनाये रखी। इस वैष्णव धर्म को ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शंकर अवैदिक मानते हैं और वैष्णव आचार्य शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं।

ये दोनों ही आक्षेप आंशिक सत्य से दूर नहीं हैं और इसके कारण भारतीय समाज का बड़ा अहित हुआ है।

मठीय संस्कृति

शंकराचार्य के आक्षेप से बचने के लिए वैष्णव आचार्यों ने धीरे-धीरे वैष्णव आगमों से नाता तोड़कर वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था से अपने को सम्बद्ध कर लिया। शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं या नहीं, इस प्रश्न पर शताब्दियों से विचार चल रहा है, किन्तु मठीय संस्कृति स्पष्टतः बौद्ध धर्म की देन है। प्राचीन भारत में गृहस्थ ऋषि को सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त थी, किन्तु वाद में स्थिति बदल गयी। गृहस्थ ऋषि का स्थान भिक्षु, मुनि और संन्यासी ने ले लिया। ऋषि गृहस्थ रहते हुए भी सभी एषणाओं से मुक्त था, किन्तु भिक्षुओं, मुनियों और संन्यासियों के इर्द-गिर्द मठों और मन्दिरों के रूप में सभी एषणाओं का एक रहस्यात्मक ताना-वाना बुना जाने लगा और इसी पृष्ठभूमि में रहस्यात्मक शास्त्रों का भी आविर्भाव हो गया। आचार्य शंकर ने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म को नेस्तनाबूद कर दिया अथवा बौद्ध धर्म को भारत से बाहर ढकेल दिया, यह हमारी दूसरी बड़ी भ्रान्ति है। अपनी सभी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ वह हमारे बीच आज भी विद्यमान है। आज भारतीय समाज का अगुआ ब्राह्मण नहीं, किन्तु मठाधीश और धर्माचार्य है। अपनी चिरसंचित बुद्धि चातुरी अथवा धूर्तता के कारण वह सब जगह अपना अग्रणी स्थान बना लेता है, यह बात दूसरी है।

वैष्णव आचार्यों ने वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था को वरीयता देने का प्रयास अवश्य किया, किन्तु वैष्णव आलवार सन्तों, सिद्धों और नाथों ने लौकिक भाषाओं के माध्यम से तथा स्मार्त धर्म के प्रतिष्ठापक आचार्यों और निबन्धकारों ने संस्कृत भाषा के माध्यम से उक्त सभी शास्त्रों की प्रामाणिकता अक्षुण्ण बनाये रखी। श्रीमद्भागवत में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और भगवान् बुद्ध की भी २४ अवतारों में गणना की गयी है। तन्त्रशास्त्र में षड्दर्शन के अन्तर्गत बौद्ध और जैन दर्शन का भी समावेश है। इस पूरे वाङ्मय में वर्ण, आश्रम और लिंग को नहीं, आचरण की शुद्धता को वरीयता दी गयी है। इस पूरी परम्परा के साथ हम सन्त कबीर और महात्मा गांधी का सम्बन्ध नहीं जोड़ पाये हैं। कबीर की उलटवासियों और गांधी के सर्वधर्म समभाव को हम उनकी अपनी झक मान लेते हैं, जिसके साथ कि परम्परावादी अपना तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते। वस्तुतः योग और तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में, समन्वयवादी भारतीय परम्परा में तथा 'वैष्णव जन' के गायक नरसी मेहता जैसे सन्तों की वाणी में कबीर और गांधी की सारी मान्यताएँ मुखरित हुई मिलती हैं।

अपनी क्रोधाग्नि से चिड़िया को भस्म कर देने वाला महाभारत का तपस्वी ब्राह्मण पति सेवा परायणा स्त्री और माता-पिता की सेवा में लगे हुए व्याध (कसाई) के सामने नतमस्तक हो उनसे उपदेश ग्रहण करता है, किन्तु आज हमें रामायण के मर्यादा पुरुषोत्तम राम और महाभारत के लोकनायक श्रीकृष्ण की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण का चोरजारशिरोमणि स्वरूप अधिक प्रिय है। हमने रामभक्ति में भी रसिक सम्प्रदाय चला दिया है। जब हमारा इष्टदेव ही चोरों और जारों का शिरोमणि है, तब हम मन्दिरों से मूर्तियों और अलंकरणों की चोरी को, मठों और मन्दिरों में फैले कदाचार तथा देश में फैले भ्रष्टाचार को कैसे रोक पायेंगे। आज का हिन्दू धर्म एक तरफ वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था की अनपेक्षित ऊँच-नीच की भावना से और दूसरी तरफ तान्त्रिक रहस्यवाद से घिरा हुआ है। उसका गला दुहरे फंदे में फंसा हुआ है।

धर्मशास्त्र के कलिवर्ज्य प्रकरण में अनेक वैदिक मान्यतायें स्थगित कर दी गयी हैं। ऐसे स्थलों पर श्रुति की अपेक्षा स्मृति का ही प्रामाण्य प्रबल माना गया है। महर्षि यास्क के निरुक्त में वर्णन मिलता है कि ऋषि परम्परा को समाप्त होती देख मनुष्य देवताओं के पास पहुँचे और उनसे पूछा कि अब हमारा क्या होगा ? देवताओं ने उनको तर्क शक्ति दी। शाक्ततान्त्रिक तर्क को योग के अंगों में श्रेष्ठ मानते हैं। शास्त्र समर्थित तर्क को धर्मशास्त्र में भी मान्यता प्राप्त है। देवताओं की दी गयी इस तर्क शक्ति के सहारे हम श्रुति, स्मृति, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, आगम और तन्त्रशास्त्र का आलोडन कर हिन्दू धर्म की समयानुकूल नूतन व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं, सामाजिक अस्पृश्यता जैसी बुराइयों को दूर कर सकते हैं। किन्तु हम तो इस भ्रान्ति में पड़े हुए हैं कि नूतन उद्‌भावना करने का हमें कोई अधिकार नहीं है।

आज के वेदान्ती की टकटकी जनक की सभा में सोने की सींगों से मढ़ी हुई गायों की ओर लगी हुई है। वह याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी के उन वचनों को नहीं सुन पाता कि इस भौतिक सम्पत्ति से यदि मैं अमरता प्राप्त नहीं कर सकती, तो इसका मैं क्या करूँगी ? सारे विश्व को हम आर्य बनाना चाहते हैं। मनु के वचन को सुनकर हम जगद्‌गुरु बनना चाहते हैं ! कितने बड़े भ्रमजाल से हम घिरे हुए हैं।

भारतीय समाज की दृष्टि स्वर्ग की ओर केन्द्रित है, जो कि विषमताओं से भरा हुआ है। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने स्नान करने से धर्म की प्राप्ति की इच्छा को जड़ता की निशानी बताया था। आज हम 'गंगा गंगेति' जैसे अर्थवाद वाक्यों को विधि मानकर गंगा स्नान के उपरान्त अपने पूरे जीवन पर प्रश्नचिह्न लगा देते हैं। परम पुरुषार्थ मोक्ष की तरफ मुड़ने पर ही हमें

उपनिषद्, भगवद्गीता और तान्त्रिक दर्शन की समता दृष्टि प्राप्त हो सकती है, किन्तु हमने तो साधारण मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी माना ही नहीं है। जब तक भारतीय समाज में उक्त समता दृष्टि का विकास नहीं होता, प्रत्येक मनुष्य को जब तक मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता, तब तक हिन्दूधर्म वर्ग संघर्ष पर आधारित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से अथवा इतर धर्मों के आक्रमण से अपने को नहीं बचा सकेगा !! नहीं बचा सकेगा !!

गति कैसे थमे !

तब यह धर्म परिवर्तन की गति कैसे थमेगी ? तान्त्रिक भोगवाद की मृगतृष्णा में पड़ा आज का भारतीय राजनीतिज्ञ ही नहीं, प्रबुद्ध वर्ग भी तान्त्रिक बाबाओं और माताओं के इर्द-गिर्द चक्कर काटते दिखायी देता है। यह परम्परा आज से एक हजार वर्ष पहले यहाँ अधिक सबलरूप में विद्यमान थी। उस समय वह दिव्य शक्ति देश को पराधीन होने से न बचा सकी, तो अब उसका सहारा लेना एक मायाजाल ही सिद्ध होगा। तान्त्रिक रहस्यवाद का आश्रयदाता तिब्बत आज पराधीन है। दलित मानसिकता को ऊपर उठाने के लिए जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ था, आज ऊँची मानसिकता वाला भारतीय प्रबुद्धवर्ग उसी हीनग्रन्थि से ग्रस्त है। तिसपर भी वह अपनी अहं मान्यता को छोड़ नहीं पा रहा है। आज हम वैदिक और तान्त्रिक दोनों धर्मों की अच्छाइयों को भूला बैठे हैं और कालक्रम से प्रविष्ट उनकी बुराइयों से चिपके हुए हैं।

कबीर और रविदास जैसे सन्त महात्मा जिस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं, अनेक सिद्धों, सन्तों, नाथों और गुरुओं ने जिसमें जन्म लिया है और हिन्दू धर्म को विश्वजनीन बनाने में जिसका सराहनीय सहयोग रहा है, वह समाज आज परमुखापेक्षी क्यों है ? आज की राजनीति नाना प्रकार के संरक्षणों का प्रलोभन देकर उसमें अर्थलोलुपता बना रही है। बिना पूरी योग्यता अर्जित किये पद प्राप्ति की इच्छा एक नया भ्रमजाल ही सिद्ध होगी। आज दलित जातियों का उद्धार तभी हो सकता है, जबकि भारत की सारी कृषि योग्य भूमि का स्वामित्व वंश, जाति या यान्त्रिक शक्ति से हटकर शारीरिक श्रमशक्ति के साथ जुड़े। आज जमीन का मालिक जिन लोगों के शारीरिक श्रम से अपना और अपने परिवार का पेट पालता है, वही उनको अस्पृश्य भी मानता है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है !

काश, पूरा हिन्दू समाज उक्त भ्रमजालों से अपने को निकाल पाता और इस धर्म परिवर्तन की गति को भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्मचक्र प्रवर्तन में बदल देता। बहुजनहिता[illegible]दी हिन्दूधर्म अब भी इसको करने में सम[illegible]